पुस्तक मिलने का पता—

श्री जिनदत्तसूरि ब्रह्मचर्याश्रम.

पालीताणा. (काठियावाड)

यतिजी महाराजश्री

मोतीचंदजी–जब्बलपुरवाले

तरफसे

मुद्रक:—

शेठ देवचंद दामजी

आनन्द प्रीन्टींग प्रेस

भावनगर.



श्रीमद् जैनाचार्य श्री श्री १००८

श्री जिन कृपाचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

जन्म सं० १९१३. दीक्षा सं० १९३६. आचार्यपद सं० १९७२.



श्रीमान्पूज्यतम, प्रातःस्मरणीय, पूज्यपाद, ज्ञानाम्भोनिधि, शासनप्रभावक, श्रीखरतरगच्छाधिपति, आचार्यवर्य श्रीमत् जिनकृपाचन्द्रसूरिजी महाराज साहब की सेवा में—

आप साहब शान्त, दान्त, गंभीर, गुणज्ञ और विशुद्ध चारित्रवंत है. आपने युवावस्था सार्थक कर के प्रतिदेश विहार कर शासन की प्रशंसनीय सेवा की है; और बहुत अज्ञानी जीवों को प्रतिबोध कर के स्वधर्म का सच्चा मार्ग बतलाया है.

और आपश्रीने आप के विहारों में धार्मिक माङ्गलिक प्रसंगो में अठ्ठाइ उत्सव, तपोपधान, उद्यापनादि बहुतसें धार्मिक कार्य कराये है; और योग्य स्थलों में विद्यालय, ज्ञानमंदिर, जेसलमेर के भंडार के जीर्ण पुस्तकों का उद्धार आदि बनवा कर ज्ञान की अभिवृद्धि की है वे सब देख कर अत्यानन्द होता है.

आप श्रीमान का विशुद्ध चारित्र और श्री जिनेन्द्र प्रोक्त धर्म में अविचल श्रद्धा और धर्मक्रिया में अभिरुचि देख कर बहुत आनन्द होता है. आप के शिष्य-प्रशिष्य समुदाय में

आपश्री का अच्छा 'प्रभाव,' परस्पर प्रेम और धर्मपरायणता देख कर आनन्द होता है.

आप के प्रशस्य और विद्वान शिष्यरत्न प्रवर्त्तक मुनिश्री सुखसागरजी महाराज भी आप की स्तुत्य आज्ञा का अनुसरण कर के विशुद्ध संयम का पालन कर के ज्ञानादिमार्ग में अभिवृद्धि कर रहे है, और श्री जिनदत्तसूरिजी ब्रह्मचर्याश्रम को श्री प्रवर्त्तक मुनिजी उपदेशद्वारा स्तुत्य लाभ दे रहे है.

इस तरह आपश्री और आप के शिष्य-प्रशिष्यादि समूह का हम लोंग पर भया हूवा उपकार से आकर्षित हो कर यह जैन तत्त्वसार सारांश की द्वितीयावृत्ति का हिंदी में लिखा हूआ पुस्तक आप साहब के करकमलों में समर्पण कर के मैं कृतकृत्य होता हूं. ली.

पालीताणा
सं १९९०
आषाढ शुक्ल

आप का दासानुदास—
प्रेमकरण मरोटी
ऑ० सेक्रेटरी श्री जिनदत्तसूरि
ब्रह्मचर्याश्रम—पालीताणा.

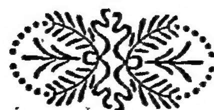
उपोद्घात.

जैनतत्त्वसार सारांश का यह द्वितियावृत्ति का समावेश दो विभागो में करा गया है, जिस में प्रथम भाग में जैनधर्म सम्बन्धी दिग्दर्शन करा गया है। उसी के अन्तर्गत जैनधर्म के सर्वमान्य सिद्धान्तों का समावेश करने में आया है और जैनधर्म की प्राचीनता, महत्त्वता के लिये प्रो० हरमन जेकोवी तथा डाक्टर आथर टोल्ड जैसे समर्थ विद्वानों के अभिप्रायों का उल्लेख करने में आया है। उसी प्रकार जैनधर्म का महान सिद्धांत की अनादि सत्यता और विश्वव्यापकता, बुद्धिज्ञान की महत्त्वता का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्णन किया गया है और जैनधर्म में अन्य दर्शन किस प्रकार समा जाते हैं मुकाबला कर के दिखाया है। उस के पश्चात् जैनधर्म का अटल सिद्धान्त स्याद्वाद और उस का किंचित् स्वरूप वर्णन करते हुवे महान् विद्वानों के अभिप्राय भी दर्ज कीये गये है, जिस से पढनेवालों को असली स्वरूप शीघ्र समझ में आ सकें। स्याद्वाद का स्वरूप बडा ही गंभीर है। वस्तुस्थिति का स्वरूप बताने में सब से पहिला नम्बर है। वस्तुमात्र में अनेक धर्म समावेश होते है, परन्तु जिस दृष्टिकोण से देखा जाता है वैसा ही स्वरूप दीखता है। रेती देखने में भारी मालम होती है, परन्तु लोहे की रेती से वह हलकी होती है। इसी प्रकार

वस्तुमात्र को अपनी अपनी अपेक्षा से देखने से वैसा ही स्वरूप दीखता है। इतना आवश्यक है कि, जब तक इसी दृष्टिकोण से देखा न जावे शुद्ध स्वरूप प्रकट नही हो सकता, न सत्यासत्य की छानबीन हो सकती है। महात्मा गांधीजीने भी कहा है कि जैनों का अनेकांतवाद मुझे बहुत प्रिय है। उसी के अभ्यास से मुसलमानों की परीक्षा मुसलमानों की दृष्टि से और इसाइयों की इसाइ दृष्टि से करना सीखा हूं। मेरे विचारों को कोई गलत समझे उस समय मुझे उस के अज्ञान के बारे में पहले गुस्सा चढता था, परन्तु अब मैं उस की दृष्टिकोण से उस को देख सकता हूं इस वास्ते उस पर भी प्रेम करता हूं।

इस प्रकार स्याद्वाद का महान् सिद्धान्त विश्व में भ्रातृभाव को फैलानेवाला है, और वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में अति उपयोगी है। इस के विना अनेक मत मतांतरों के झगडे खडे हो गये है। विचारवानों को जरुर इस का अभ्यास करना चाहीये। इतना स्याद्वाद का दिग्दर्शन कराने बाद मानसिक जीवन उत्क्रान्तिभूत समभाव का विषय चर्चा गया है। यही शिवमार्ग की सीधी सड़क है, विचारवानों को हितकारी है। तराजूं के दोनों पलड़े बराबर न हो तब तक तराजू की सुई बीच में नहीं ठहर सकती, इस लिये समभावी राग-द्वेष में नही फंसते हुवे अपनी चित्तवृत्ति को अलग रख सकता है। इस लिये राग में फसता नहीं, द्वेष में लिपटता नही, हमेशां आत्मिक ध्यान में निमग्न रह कर आत्मकल्याण कर सकता है। इस प्रकार

समभाव का किंचित् स्वरूप बताने के बाद जैनों का महान् विशाल अहिंसा धर्म का वर्णन करने में आया है। इस समय भी यह परमसूत्र सब की जबान पर चढा हुवा है, और उस का स्वरूप विराट होता जाता है। समस्त जगत गौरव के साथ उस को देख रहा है। जिस का वास्तविक उद्देश तो आत्मोन्नति का है, तो भी उस का कोई भी रूप किसी भी अंश में पालन करा जावेगा उसी अंश में निश्चय फ़ायदा होगा। उस के वस्तु-स्थिति ज्ञान से जगत खंखुवार लड़ाइयों से मुक्त होगा और आत्मोन्नति की तर्फ आगे बढ़ेगा। अहिंसा धर्म के वास्ते किसी भी धर्म में दो मत नही है। इस की महिमा अलौकिक और अगम्य है, तो भी कहते शोक होता है कि संसार का बहुतसा भाग इस से परिचित नहीं है। इस के पश्चात् जैनदर्शन जो कि सर्वज्ञभाषित दर्शन है उस का दिग्दर्शन कराने को विज्ञान विषय की रूपरेखा दिखाई गई है। साथ ही सृष्टि कर्तृत्ववाद, ब्रह्मसत्य जगत मिथ्या, षटद्रव्य, आदि विषयों का वर्णन प्रथम भाग में करा गया है जिन का हरेक जैन को अवलोकन करना चाहीयें।



द्वितीय भाग.

इस भाग में जैनतत्त्वसार नामक पुस्तक नवीन शैली से प्रकाशित किया गया है।

यह पुस्तक अध्यात्मज्ञान जड चेतन सम्बंधी ज्ञान विस्तारपूर्वक वर्णन करने के साथ २ विस्तार सहित ज्ञानप्रकाश जीव अजीव, मोक्षादि तत्त्व का वर्णन लोकप्रसिद्ध दृष्टांतों सहित जो आसानी से समज में आ सकें। वीस अधिकार नवीन ढंग से लिखते हुवे आत्मा और कर्म का स्वरूप, कर्म और आत्मा का सम्बंध कैसा है? कर्म के जीव के कितने भेद हैं? जीव कर्मों को किस प्रकार नष्ट कर के मोक्ष प्राप्त करता है? विना शरीर के अवयवों की सहायता जीव कर्म का कैसे बंध करता है? सिद्ध भगवंत कर्मों से क्यों पृथक् है? मोक्ष में कैसा उन का सुख है? मुक्ति द्वार कभी बंद हुवा नही और होगा भी नही? ईश्वर सृष्टि रच सकता है या नही? ईश्वर प्रलय कर सकता है या नही? जगत की रचना में ईश्वर कारणभूत है या नही? मनुष्यमात्र सुख–दुःख क्यों भोगते है? सृष्टिवाद का क्या स्वरूप है? अंत में ज्योति में ज्योति कैसे समाती है? सिद्ध के जीवों को संकीर्णता

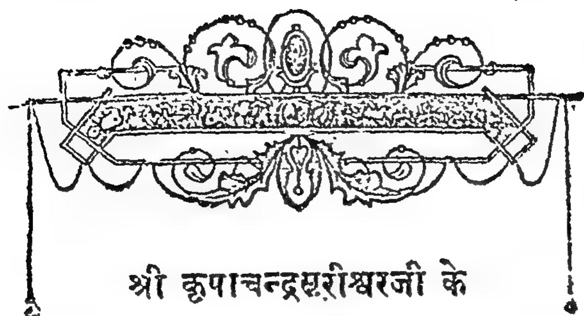
होती या नहीं? जगत का स्वरूप क्या है? कर्म जड है? किस प्रकार प्रकट होते हैं? उस के उदय आने के कितने रास्ते हैं? स्वर्ग--नरक, पुन्य--पाप प्रत्यक्ष न होने पर भी मानने योग्य है? गृहस्थधर्म कैसा हो? परमधर्म कैसा हो? परमधर्म कौनसा है? प्रतिमा पूजन से क्या लाभ है? जड के पूजने से क्या लाभ होता है? परमार्थ की सिद्धि किस से होती है? मुक्ति प्राप्त करने का सर्व दर्शनों से मिलता कौनसा प्रधान मार्ग है? सिद्ध भगवन्त और निगोद का क्या स्वरूप है? इत्यादिक अनेक उपयोगी और आवश्यक बातें दलीलों सहित बुद्धि और ज्ञान में आ सकें इसी तरह दी गई हैं, इतना ही नहीं, उस का पृथक्करण सुगमता के साथ इस ग्रन्थ के कर्ता विद्वान श्रीजिनभद्रसूरि के संतानीक--वाचक--सूरचंद्र महामुनिराजने कर दिखाया है, जो हरेक तत्त्वाभिलाषी व आत्मार्थी भाइयों और बहनों को आवश्य वांचने योग्य है। और मनन करने से जैनधर्म पर अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करें यह निःसंदेह बात है। इस पुस्तक के लेख उपरांत श्रीमद् उपाध्याय श्रीयशोविजयजी विरचित सवासो १२५ गाथा का स्तवन में से पूजन अधिकार की ८-९ और १० दसवी ढाल का सम्पूर्ण विवेचन प्रश्नोत्तर के रूपसें प्रकाशित कर के पूजन का विषय दृढ किया गया है।

जैनतत्त्वसार के विद्वान ग्रन्थकारने प्रतिमापूजन के तीन अधिकार वर्णन करने में इस विषय को अति उत्तम बना दिया

है, और इस से और भी विशेषता आ गई है कि मूर्तिपूजा निषेधक भी इस ग्रन्थ से सम्पूर्ण निरुत्तर हो जोत है। इस प्रकार का यह ग्रन्थ दोनों विद्वान कर्ताओने पूजा का अधिकार लिखा हैं इस वास्ते हरेक मूर्तिपूजक को वांचने की प्रार्थना है। इस के सिवाय कुच्छ विषय फुटकर पुस्तकों से भी ले कर शरूआत के अभ्यासीयों वास्ते बडा लाभदायक संग्रह कीया गया है। इस प्रकार दूसरे भाग में जो जो पृथक् २ विषय लिखने में आये है उन को आद्योपान्त पढने की वाचकवृन्द से प्रार्थना है।

प्रकाशक.





श्री कृपाचन्द्रसूरीश्वरजी के

संक्षिप्त चरित्र.

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ॥

महात्मा पुरुषके जीवनवृत्तान्त संसारमें कितना लाभ कर सकते हैं, और ऐसे जीवनवृत्तान्तों के प्रकट करनेकी कितनी आवश्यकता है ? यह बात समझानेकी कुछ भी जरूरत नहीं है ।

इस पवित्र आर्यभूमि में अब भी ऐसे ऐसे महात्मा मौजूद है कि, जिनसे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास, साहित्य और आर्यत्वके गौरव की रक्षा हो रही है. सुप्रसिद्ध खरतरगच्छाधिराज **जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वरजी** उन महात्माओं में से एक हैं । एक साधारण प्रदेशमें जहां पर धर्म सामग्री का प्राप्त होना दुर्लभ हो वहां जन्म होते हुवे भी जैन समाजमें असाधारण पदवी को प्राप्त करना, यह कोइ सामान्य बात नाहिं है ।

मरुधर देशमें शहर जोधपुरसे पश्चिम दिशामें चामु नामके शहरमें आपश्री का जन्म हुआ था । आपश्री के पिता का नांम मेघरथ, गोत्र बाँफणा तथा माताका नाम अमरादेवीके कुक्षीसे सं. १९१३ में जन्म हुआ. आपश्री बाल्यअवस्थामें व्यवहारिक अभ्यास करनेके बाद कुमार अवस्था हुइ तब पूर्व सुकर्म संयोगसे आपश्रीको गुरु श्री अमृतमुनिजीका संयोग हुआ, तब उनके पास धार्मिक अभ्यास पंचप्रतिक्रमण वगैरह व्याकरण और न्याय कोषका अभ्यास किया. बादमें आपश्रीको गुरुमहाराज जैन सिद्धान्त पढ़ानेके योग्य जान कर सम्वत् १९३६ में आपश्रीको यतिसम्प्रदाय की दीक्षा दी. फिर गुरू महाराजकी सेवा करते हुवे अच्छी तरहसे जैन सिद्धान्तका अभ्यास करने लगे, उस समय आपके गुरू महाराज को तथा आपश्रीको क्रिया उद्धार करनेका परिणाम हुआ, तब आप अनेक देशों में रहे हुऐ प्राचीन अर्वाचीन बहुत से तीर्थों के दर्शन करते हुवे अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए संयम की भावना भाते हुऐ रायपुर पधारे. वहां पर सं. १९४१ में श्री गुरु महाराज का निर्वाण हो गया. गुरु महाराज का वियोग आप को बड़ा दुस्सह हुआ, क्यों कि (नहि केनापि कस्यापि मृत्युः शक्यो निषेधितुम्) आपको वैराग्य की परिणति अधिक बढी, और सं. १९४५ में नागपुर में आपश्रीने क्रिया उद्धार किया. वहां पर इन्दौर के श्रीसंघ की विनंति आने से आपश्री इन्दौर पधारें, वहां पर श्री संघके आग्रहसे कितनेक वर्ष इन्दौर रह कर व्याख्यान में पैंतालीस आगम, वगैरे सूत्र वांचे. बादमें आपश्री विहार करके कायथे पधारे, वहां पर आपश्रीने एक भाग्यशाली को दीक्षा दी. और आपश्री संघ के साथ धुलेवा यात्रा के लिये पधारे. बादमें सं. १९५२ का चौमासा उदयपुर में किया, बादमें विहार करते हुवे, शुद्ध संयम को पालते हुवे खैरवाड़े पधारे, वहां पर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा की, बाद में विचरते हुए गोडवाल में पधारे वहां पर सं. १९५३ का चौमासा देसूरि में किया, बादमें तीर्थों की यात्रा करते हुवे जोधपुर पधारे, सं. १९५४ का चोमासा जोधपुर किया. बाद में विहार कर के जेसलमेर पधारे, वहां पर सं. १९५५ का

मरुधर देशमें शहर जोधपुरसे पश्चिम दिशामें चामुं नामके शहरमें आपश्री का जन्म हुआ था । आपश्री के पिता का नाम मेघरथ, गोत्र वाँफणा तथा माताका नाम अमरादेवीके कुक्षीसे सं. १९१३ में जन्म हुआ. आपश्री बाल्यअवस्थामें व्यवहारिक अभ्यास करनेके बाद कुमार अवस्था हुइ तब पूर्व सुकर्म संयोगसे आपश्रीको गुरु श्री अमृतमुनिजीका संयोग हुआ, तब उनके पास धार्मिक अभ्यास पंचप्रतिक्रमण वगैरह व्याकरण और न्याय कोषका अभ्यास किया. बादमें आपश्रीको गुरुमहाराज जैन सिद्धान्त पढ़ानेके योग्य जान कर सम्वत् १९३६ में आपश्रीको यतिसम्प्रदाय की दीक्षा दी. फिर गुरू महाराजकी सेवा करते हुये अच्छी तरहसे जैन सिद्धान्तका अभ्यास करने लगे, उस समय आपके गुरू महाराज को तथा आपश्रीको क्रिया उद्धार करनेका परिणाम हुआ, तब आप अनेक देशों में रहे हुऐ प्राचीन अर्वाचीन बहुत से तीर्थों के दर्शन करते हुये अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए संयम की भावना भाते हुऐ रायपुर पधारें. वहां पर सं. १९४१ में श्री गुरु महाराज का निर्वाण हो गया. गुरु महाराज का वियोग आप को बड़ा दुस्सह हुआ, क्यों कि (नहि केनापि कस्यापि मृत्युः शक्यो निषेधितुम्) आपको वैराग्य की परिणति अधिक बढी, और सं. १९४५ में नागपुर में आपश्रीने क्रिया उद्धार किया. वहां पर इन्दौर के श्रीसंघ की विनंति आने से आपश्री इन्दौर पधारें, वहां पर श्री संघके आग्रहसे कितनेक वर्ष इन्दौर रह कर व्याख्यान में पैंतालीस आगम, वगेरे सूत्र वांचे. बादमें आपश्री विहार करके कायथे पधारे, वहां पर आपश्रीने एक भाग्यशाली को दीक्षा दी. और आपश्री संघ के साथ धुलेवा यात्रा के लिये पधारे. बादमें सं. १९५२ का चौमासा उदयपुर में किया, बादमें विहार करते हुये, शुद्ध संयम को पालते हुये खैरवाड़े पधारे, वहां पर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा की, बाद में विचरते हुए गोडवाल में पधारे वहां पर सं. १९५३ का चौमासा देसूरि में किया, बादमें तीर्थों की यात्रा करते हुये जोधपुर पधारे, सं. १९५४ का चोमासा जोधपुर किया. बाद में विहार कर के जेसलमेर पधारे, वहां पर सं. १९५५ का

सुरत पधारे, सं. १९७१ का चौमासा सुरत में किया वहां पर साधुओं को दीक्षा दे कर विहार करके जगडीया और भरुच की यात्रा करते हुओ कावी तीर्थ हो करके पादरा पधारे, वहां पर शरीर में अशाता होने के कारण वडौदा पधारे, शरीर अच्छा होने के बाद विहार करके रास्ते में तीर्थोंकी यात्रा करते हुए मुम्बइ पधारें, वहां पर नगरसेठ रतनचंद खीमचंदभाई, मुलचंद हीराचंद भगत तथा प्रेमचंद कल्याणचंदभाई, केसरीचंद कल्याणचंदभाई तथा मुम्बई संघ समस्तने आनंद पूर्वक प्रवेश महोत्सव कराया. वाद में श्री संघ के आग्रह से सं. १९७२ का चौमासा लालवाग में किया, उस समय में आपश्रीने व्याख्यान में भगवती सूत्र वांचा. आपश्री के मुखारविंदसे व्याख्यान सुनते हुऐ श्री संघ को बहुत आनंद हुआ, वहां के श्री संघने आपश्री को आचार्य पद में स्थापित करने की अर्ज की, आपश्री को पदवी लेने की इच्छा नही थी तौ भी श्री संघ के आग्रह से विनंती स्वीकार की, क्यों कि (अलुब्धा अपि गृह्णांति भृत्याऽनुग्रह हेतुना) श्री संघने धामधूमसे उत्सव किया; शत्रुंजय, गिरनार, आवु आदि पंच तीर्थ की रचना की और विधिपूर्वक आचार्य पद मे स्थापित किये. उस समयके वाद में आपश्रीने दूसरा चौमासा श्री संघ के आग्रह से वहां किया, चौमासा समाप्त होनेके वाद विहार कीया रास्ते में तीन साधुको दीक्षा दी. वाद में सुरतवाली कमलावाईकी विनति स्वीकार करके छुहारी पधारे, वहां पर के श्री संघ समस्त के आग्रहसे चौमासा किया, और वासुपूज्य भगवान की प्रतिष्ठा की, और स्वामी वच्छल वगेरे बहुत धर्मकार्य हुआ. श्री संघ के आग्रह से सं. १९७४ का चौमासा वहां ही किया. वाद साधु साध्वी तीन को दीक्षा दी. वाद में सुरत पधारे, और कल्याणचंद घेलाभाई तथा पानाचंद भगुभाई के और श्री संघ के आग्रह से वहां पर शीतलवाड़ी उपाश्रय में चौमासा किया, और पानाचंदभाईने श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार वनवाया और उजमणा कीया. उस समय में आपश्रीने अपने दो शिष्य रत्नों को उपाध्याय तथा प्रवर्तक पद दे कर सुशोभित कीये. प्रेमचंदभाई केसरीचंदभाई

ने उजमरणा किया, तथा धम्माभाई पानाचंदभाई मोतीभाई सबने चतुर्थ व्रत ग्रहण किया. सं. १९७५–७६ दो चोमासा कर के आपने विहार किया. बाद में वड़ौदा पधारे, वहां पर श्री संघ के आग्रह से सं. १९७७ का चौमासा किया, वहां पर रतलामवाले सेठजी दर्शनार्थ आये थे, और उन्होंने रूपया और नारियल की प्रभावना की. बाद आप विहार कर के अहमदावाद, कपडवंज, रंभापुर, झावा हो कर रतलाम पधारे, और श्री संघ के आग्रह से सं. १९७८ का चौमासा रतलाम किया. वहां पर उपधान हुआ, उस समय एक बड़ी सभा की गई थी, और महाराजा रतलाम नरेश सजनसिंगजी आप की मुलाकात के लिये एवं दर्शनार्थ पधारे थे, और साधु साध्वी पांच को दीक्षा हूई; वहां से विहार कर के इन्दौर पधारे, वहां पर श्री संघ के आग्रह से सं. १९७९ का चौमासा किया और भगवती सूत्र वांचा, उपधान हुआ, वहां रतलामवाली सेठाणीजी आये थे, उन्होंने रूपया और नारियलकी प्रभावना की; और वहां पर श्री जिनकृपाचंद्रसूरि ज्ञानभंडार इस नाम से ज्ञानभंडार स्थापित कीया. बाद में महोपाध्याय वाचक, पंडित वगेरे पदवी दी गई. बाद में विहार कर के मांडवगढ श्री संघ के साथ पधारे, वहां से भोपावार, राजगड़ वगेरे यात्रा करते हुए खाचरोद हो कर के शेमलीयाजी पधारे, बाद में सैलाना पधारे, और वहां के दरबार को धर्मोपदेश सुनवा करके बाद में प्रतापगढ पधारे, और वहां से मन्दसौर पधारे. सं. १९८० का चौमासा मन्दसौर कीया. वहां से विहार कर के नीमच, नीवाड़ा, चित्तोड हो कर के करेडा में श्री पार्श्वनाथस्वामी की यात्रा कर के देवलवाड़ा होते हुए उदेपुर पधारे, वहां से कलकत्तेवाले वाबु चम्पालालजी प्यारेलाल के संघ के साथ केशरीयाजी पधारे, और वहां से आ कर के संघके आग्रहसे सं. १९८१ का चौमासा उदेपुर में किया. ठाणा २५ के साथ में चौमासा वाद विहार कर के राणकपुर, नाडोल वगेरे तीर्थोंकी यात्रा करते हुए जालोर पधारे, वहां से विहार कर के बालोतरा पधारे सं. १९८२ का चौमासा बालोतरा में कीया. वाद में श्री नाकोडा पार्श्वनाथस्वामिकी यात्रा करते हुए बाड़मेर पधारे. वहां से संघ के साथ जेसलमेर पधारे, वहां पर यात्रा कर

के सं. १९८३ का चौमासा जेसलमेर किया. वहां पर जिनभद्रसूरि महाराज का पुराना ज्ञानभंडार में ताडपत्रकी पुस्तकोंका जीर्णोद्धार कराया. वाद में विहार कर के फलोदी पधारे, वहां से श्री संघ के साथ ओसीयाजी पधारे, वहांसे यात्रा कर के वापिस फलोदी पधारे. सं. १९८४ का चौमासा फलोदी में किया. वाद मे वहां पर श्री संघ के आग्रह से उपधान कराया. वाद में विहार कर के वीकानेर पधारे, वहां पर श्री संघ के आग्रह से सं. १९८५ का चौमासा वीकानेर में किया, और उपधान वगेरे उच्छव धामधूम से हुआ. वाद में वहां पर शरीर में अशाता होने के कारण से श्री संघ के आग्रह से सं. १९८६–८७ का चौमासा वीकानेर में हुआ. वहां पर सुरतवाले सेठ फत्तेचंद प्रेमचंदभाइ विनती के वास्ते आये, और महाराज साहब को विनंती कर के पालीताणे की तरफ विहार कराया. आप पार्श्वनाथ फलोदी तथा आवुजी वगेरे तीर्थों की यात्रा कर के पालीताणे पधारे, यहां पर सेठ प्रेमचंद कल्याणचंदभाई की धर्मशाला में पधारे, यहां पर आप दो वर्ष से विराजते है और दो वर्ष तक उपधान हुआ, और अच्छी तरह से और भी धर्मकार्य वगेरे होता है. आपने दीक्षा अंगीकार की तव से ४६ वर्ष तक विद्याअभ्यास करते हुए परिपूर्ण तरह से स्वसिद्धान्त का और पर सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त किया, और गुरु महाराज के निर्वाण के वाद आपको अन्य दर्शन के शास्त्र अवधारण करनेके लिये पांच वर्ष तक रहना हुआ. वाद में वीकानेर में गुरु महाराज का उपाश्रय तथा पुस्तकोंका ज्ञानभंडार खरतर गच्छ के संघ को सुप्रत करने के वाद क्रिया उद्धार किया. जव से आप के शिष्य प्रशिष्य समुदाय होने लगा तवही से आप परिश्रम पूर्वक स्वपर सिद्धान्तों को अभ्यास करवा के विद्वान् वनाये, और वहुत देशों में घुम कर के वहुत से भव्य जीवोंका उद्धार किया, और मारवाड़ में विचरते समय में विद्यार्थीओं के लिये पाठशाला खोलाइ, और कन्याओंके लीये कन्याशाला स्थापित कराई, और वालोतरा में आप विराजते थे उस समय में सेठ घेलाभाइ कल्याणचंदभाईके तरफसे पालीताणे में श्री जिनदत्तसूरिश्वर ब्रह्मचर्याश्रम खोलने के वास्ते

रू. १००००) दश हजार की शरू में मदद कराई. फलोदी वीकानेर वगेरे शहर में आपश्री के शिष्य प्रवर्तक सुखसागरजी महाराजने आश्रम के लीये उपदेश कर के वहुत मदद कराई, और अभी भी मदद करवाते है. आप और आप के शिष्यगण सद्गुणों के रागी है, किसी तरह के विखवाद में नही पड़ते है. इस समय में आप यहां विराजते है. प्रथम चातुर्मास में पन्यास श्री केसरमुनि, वुद्धिमुनिजी वगेरे थे। उन्हों के पास में आपने अपने शिष्यों को वृद्ध योग में प्रवेश कराये. प्रवर्तक मुनि सुखसागरजी, मुनि विवेकसागरजी, मुनि वर्धनसागरजी मुनि उदयसागरजी वगेरे को कितनेक सूत्रों के जोग करवाये. आप के साधुसाध्वी अंदाजन सीत्तर (७०) हैं. इस समय ७७ वर्ष की वृद्ध अवस्था होने पर भी सूत्र स्वाध्याय में समय व्यतीत करते हो. ॥ इति शुभम् ॥

सं. १९९० मिति चैत्र शुदि ८. लीο प्रकाशक.



निवेदन.

संवत् १६७९ के आश्विन शुक्ला पूर्णिमा और बुधवार के दिन विजययोगमें " शासन शिरोमणि श्रीपद्मवल्लभजी गणिकी सहायसें खरतरगच्छाधिपति श्रीमत् उपाध्यायजी महाराज श्री सुरचन्द्र विबुधने यह " जैन तत्त्व सार " नामका ग्रन्थ परिपूर्ण कीया है। जिसको जैनतत्त्वसार–सारांश नाम सें हम प्रगट कर रहे हैं।

प्रथम इस ग्रन्थका गुजराती भाषान्तर " बडौदा निवासी प्रसिद्ध विद्वद्रत्न वैद्यराज मगनलाल चुनीलालजीने कीया है। सद्‌गत वैद्यराज मगनलालभाई जैन शास्त्रमें निपुण, बुद्धिशाली और धर्मनिष्ठ थे। और गीर्वाण गिराके उपासक और अच्छे अभ्यासी थे।

गुजराती भाषांतर युक्त " जैन तत्त्वसार " श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराजश्री के प्रशस्य विद्वान् शिष्यरत्न प्रवर्त्तक श्री कान्तिविजयजी महाराजने भावनगर आत्मानन्द जैन सभा द्वारा प्रगट कीया था।

उपरोक्त ग्रन्थ के वाचन और परिशीलनसे हरकोई शख्स कहेगा की आधुनिक समय में ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता है।

एक जमाना था कि जब भारतवर्ष सारे संसारका गुरु

---

१ (खरतरगच्छ की वृहत् शाखा में) जेसमेर भंडार–संस्थापक श्री जिनभद्रसूरि महाराज तथा मेरुसुंदर पाठक, हर्षप्रिय पाठक, चारित्र-उदय वाचक–वीर कलश।

२ यह मूल ग्रंथ के इक्वीस अधिकार है और पृथक पृथक आधिकार में प्रश्नोत्तर सहित अलग अलग विषय है और इक्वीस में अधिकार में ग्रंथकारने अपनी गुरुपरंपरा बतलाइ है सो इस पुस्तक के अन्त में दी गई है।

था। हजारों वर्ष पर भारत सैंकडो देशों पर शासन करता था। उस भारतकी स्वतंत्रता के लिये नवयुवकोंको उस प्राचीन गौरव को अपनाना हि होगा, उन्हें बडे २ महात्माओंका चरित्र और तत्त्वज्ञान के ग्रन्थ पढना होगा। संसारमें बहुत से छीपे रत्न है, लेकिन जब तक उन को शोधने का प्रयत्न नहीं होगा वहां तक उन की इच्छा रखना मानो आकाश कुसुमको प्राप्त करना बराबर है। उपरोक्त ग्रन्थ भी छीपे हुए रत्नोंमें से एक है, उस का जितना ज्यादा प्रचार उतना ही तत्त्वज्ञानका ज्यादा प्रचार यह निर्विवाद है।

गुजराती भाषा में इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति की २००० कापियाँ प्रगट की थी। लोकोपयोगिता के कारण से उसी भाषा में दूसरी आवृत्ति भी प्रकाशित की गई। लेकिन मारवाड और मेवाड आदि प्रदेशों में भी इस की उपयोगिता समझ कर इस का हिन्दी संस्करण प्रगट करना उचित समझ कर वाचकगणके सामने यह तत्त्वविषयक ग्रन्थ पेश करता हूं, आशा है कि, उसको सहर्ष स्वीकार करेंगे।

गुजराती में प्रथमावृत्ति प्रगट होने के बाद वर्तमानपत्रों में उक्त ग्रन्थ की अच्छी समालोचना प्रगट हुईथी। जिसको हमने जैन पत्र के साथ हेन्डबील के रूप में प्रकाशित की थी, इसी ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति प्रगट करने का प्रसंग आया, तब उस के फॉर्म जैन शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् सुरत निवासी रा. रा. सुरचंद्र पी. बदामी रीटायर्ड जज् साहब को अवलोकन करने के लिये भेजे गये थे. अवलोकन करने के बाद उस महाशयने जो अभिप्राय भेजा था उस को द्वितीयावृत्ति में प्रगट कीया है। वांचको के लिये उपयोगी होने के वजहसे उसको यहां पर प्रगट करता हूं।

अभिप्राय ।

रा. रा. धर्मस्नेही श्रीयुत् शंकरलालभाई ।

" जैन तत्त्व सारांश " पढा, यह पुस्तक प्रगट करने के लिये आपने अच्छा प्रयास किया है । अल्प समय में दूसरी आवृत्ति नीकालने का प्रसंग आया, इसीसे मालूम होता है कि वाचकवर्ग में इस की अच्छी हुई कदर हैं ।

आधुनिक समय में जडजीवन जीने के लिये बहूत से मोहक साधन मीलते हैं । और उसी से हमारे बालक और युवकोंकी खराबी हो रही है, इस लिये जडजीवन के प्रेरक साधनों को हठानेवाले और आत्मजीवन जीलाने वाले साधनों की पुष्टि के लीये इस प्रकारके तत्त्वज्ञान के पुस्तकों की अत्यावश्यकता हैं, और उस प्रकार की आवश्यकता, सच्ची चेतनता, और विचारशक्ति हमारा साहित्य ही पूर्ण कर सकता है । उक्त बाबतों का ज्ञान विद्यार्थीगण आपकी किताब पढने से प्राप्त कर सकते है, इसी लीये आपका यह प्रयास स्तुत्य और उपकारक है ।

आप को विद्यार्थीगण से अच्छा परिचय है, उनकी त्रुटियां आप अच्छी रीतसे समझ सकते है । और उनको हठाने के लीये कौनसे २ उपाय सफल हो सकते है उस को विचारने की आपकी बुद्धि है, इसी लीये भविष्यमें विद्यार्थीगण जैन तत्त्वज्ञान को अच्छी रीतसें समझ सकें और अपने आचार-विचार में

ला सकें, और अपनी और समाज की प्रगति करने के लिये भाग्यशाली बनें, इस लिये आकर्षक भाषा शैली में जैन तत्त्वज्ञान विषयक और आचारविषयक पुस्तक ज्यादा प्रमाणमें प्रगट करने के लिये आप भाग्यशाली बने ऐसी इच्छा करता हूं।

सुरत पंडोलकी पोळ. }
ता. ८-९-३२ }

ली. सुरचंद्र पी. बदामीका
जय जिनेन्द्र

उपरोक्त अभिप्राय बदामी महाशयने गुजराती द्वितीयावृत्ति के लिये लिखा है, इसी परसे हमारे प्यारे विद्यार्थीगण और सज्जनवृन्द अनुमान कर सकते है कि यह पुस्तक जैनतत्त्व का अभ्यास करने के लिये कितना उपयोगी हो सकता है।

जैनतत्त्व सार की मूल प्रति कीस तरह प्राप्त हुई उस का वृत्तान्त जैन आत्मानन्द सभा भावनगर के प्राणभूत और हमारी संस्था के स्था. सेक्रेटरी रा. रा. श्रीयुत वल्लभदास त्रिभोवनदास के कथनानुसार प्रथमावृत्ति में प्रगट कर चूका हूं। इसी लीये उस का उल्लेख यहां करना निरर्थक समझता हूं। अभी वह समय नहीं है कि बडे २ बाह्य और अच्छे २ अलंकारो से पुस्तक का कद बढाना और कठिनता करना। अभी तो Short & sweet "छोटा और मधुर" प्रमाणभूत लिखेगा तभी हरकोई शख्स उस को पढ सकता है। और लाभ पा सकता है यह बाबत खास लक्ष्य में रखकर यह पुस्तक प्रगट कियां जाता है।

इस पुस्तक में कौनसे २ विषयों का समावेश कीया गया है, सो विषयानुक्रमणिका और उपोद्घात पढनेसे ज्ञात हो सकता है।

जैन धर्म विश्वधर्म है, उसके सिद्धान्त (उसूल) विश्व-मान्य है, जगत् के सभी धर्मों में उस का प्राधान्यपद है, उस का क्षेत्र विशाल है, और सिद्धान्तोंमें संकुचितताका स्थान नहीं है, यह बात को सिद्धान्त पारंगत बतला सकते है। उस के सिद्धान्तों में अहिंसा और स्याद्वाद की मुख्यता, सर्व श्रेष्ठता और सर्वोपरिता है, उस का यथास्थित ज्ञान करने से और उस ज्ञानामृत का पान करने से जीव मुक्तिगामी हो सकता है, यह कहना तद्दन निर्विवाद और निःशंक है। इस प्रकार के सिद्धान्त कोमल बुद्धिवाले विद्यार्थीगण पढें, और उस में उन की अभिरुचि हो इस अभिप्राय से इस ग्रन्थमें जैन धर्म के मुख्य २ सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया है।

तत्त्वज्ञान का अच्छा प्रचार होवे, और सब कोई इस का लाभ पा सकें इस लिये गुजराती ग्रन्थ की अपेक्षा इस का ज्यादा खर्च होने पर भी किंमत बहुत कम रक्खी है।

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य महाराज श्री विजयनेमि सूरीश्वरजी महाराज के प्रखर विद्वान् और प्रशस्य शिष्य आचार्य श्री विजयोदय सूरीश्वरजी महाराजने इस ग्रन्थ का संपूर्ण रीतिसे अवलोकन किया है। इसमें जो २ बातें लीखी है वे शास्त्रगम्य है और मतिकल्पना से रहित है। और जीतना

बन सकें इतना ध्यान दीया है। और तैयार होने के बाद अमृतलाल अमरचंद सलोत, जो कि एक अच्छे विद्वान् है उस के पास भी निरीक्षण कराया है। भी उस में कोई त्रुटि होवे तो वाचकवृन्द को विज्ञप्ति करता हुं कि कृपा कर के मुझे वह क्षति-दोष अवश्य लिखें। क्यों कि "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" इस कथन से भूल के पात्र सब कोई होते है, इसी लिये क्षमा याचता हूं।

यह पुस्तक हमारी धार्मिक समितिने हमारी संस्था के पांचवीं और छट्ठी कक्षाके धार्मिक कोर्स में दाखिल कीया है। संस्था के प्रत्येक संचालक को निवेदन करता हुं कि यह किताब यदि उपयोगी होवे तो आप के धार्मिक कोर्स में अवश्य दाखल करें। जैन श्वेताम्बर एज्युकेशन बोर्ड के माननीय कार्य-वाहकों को निवेदन करता हुं कि उचित समझ कर धार्मिक कोर्स में स्थान देने की कृपा करें।

जैनतत्वसार—सारांश की, गुजराती द्वितीयावृत्ति में, व्यक्त किया मुताबिक; परम पूज्य प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद, आचार्य श्री कृपाचन्द्रजी महाराज श्री के, प्रशस्य और विद्वान् शिष्य रत्न प्रवर्तकजी महाराज श्री सुखसागरजी महाराज के सदुपदेश सें श्रीमान् सेठ प्रेमकरण मरोटीने श्री जिनदत्तसूरि ब्रह्मचर्याश्रम तरफ सें यह पुस्तक की द्वितीयावृत्ति का हिन्दी

में अनुवादित करवा कर, जैन जनता के समक्ष रख कर, हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अभिवृद्धि किया है.

हरएक तत्त्व के अभिलाषी–श्रद्धावाले जैन बंधुओं और बहेनों को, इस ग्रन्थ को साधंत पढने की विज्ञप्ती करता हुं ॐ शांति.

प्रयोजक.





श्री जैन तत्त्वसार सारांश



[प्रथम विभाग]



:: जैनदर्शन सम्बन्धी किञ्चिद्वक्तव्य ::



—: उन की विशालता और गौरव :—

विश्ववंद्य जैनसिद्धान्तों का दिग्दर्शनः—

जैनधर्म के मुख्य २ सिद्धान्त यानि मंतव्य जो कि जगत्भरमें तत्वज्ञों को, उन के अभिलाषीओं को और खास कर के सर्व दर्शनो को मान्य हो सके ऐसे हैं। यही उन की विशालता और गौरव है। जैनधर्म के अटल अभ्यासी प्रोफेसर हर्मन जेकोबी महाशय कहते हैं कि—

" जैनदर्शन वास्तवमें प्राचीन विचारश्रेणी है। अन्यान्य दर्शनों से बीलकुल भिन्न और स्वतंत्र दर्शन है। इसी लिये जैनदर्शन उन के लिये तो खास आवश्यकीय है जो प्राचीन हिन्दुस्थान के तत्त्वज्ञान संबन्धी विचार और धार्मिक-जीवन के अभ्यासी है। "

प्रो० हर्मन जेकोबीने जैनतत्त्वज्ञान संबन्धी जो लेख लिखा है वह हमने 'बुद्धिप्रभा' मासिक के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक में प्रगट किया है। उपरोक्त विचार उसी लेख से दर्शाया गया है। अतः वास्तव में देखा जाय तो जैनदर्शन एक स्वतंत्र दर्शन है, बौद्धधर्म की अथवा अन्य कोई भी धर्म की शाखा नहीं है। इतना ही नहीं परन्तु नाविन—कल्पित मत भी नहीं है। (इस विषयमें भी प्रो० हर्मन जेकोबीने उस लेखमें खूब समर्थन किया है) परन्तु वह सनातन सत्य है जो कि अनादि-काल से चला आ रहा है। और मुमुक्षुओंको भी अतिशय हितावह है।

जैनदर्शन की महत्ताः—

जैनदर्शन की महत्ता के संबंधमें डॉ. ओ. परटोल्डेने " धर्म के तुलनात्मक शास्त्रोंमें जैनधर्म का स्थान और महत्त्व " इस विषय पर ता. २१—९—३१ के दिन अपने व्याख्यानमें कहा कि—यदि संक्षेपसे कहा जाय तो श्रेष्ठ धर्मतत्त्व और ज्ञान पद्धति ये दोनों दृष्टि से जैनधर्म एक तुलनात्मक शास्त्रों में अतिशय आगे वढ़ा हुआ धर्म है। द्रव्यों के ज्ञान संपादन

करने के लिये जैनदर्शनमें स्याद्वादधर्म का आधुनिक पद्धति से एसा निरुपण किया गया है कि जिन को मात्र एक वख़्त द्रष्टि-गोचर करना ही काफी है।

" जैनधर्म यह धर्मविचार की निःसंशय परमश्रेणी है और उस द्राष्टि से केवल धर्म का वर्गीकरण (पृथक्करण) करने के लिये नहीं; परन्तु विशेषतः धर्म के लक्षण नियुक्त करने के लिये और तदनुसार सामान्यतः धर्म की उत्पत्ति जानने के लिये उन का खूब मननपूर्वक अभ्यास करना आवश्यक है। "

जैनधर्म का मन्तव्यः—

जैन शब्द की उत्पत्ति इस तरह हो सक्ती है:-जि=जये यानि जि धातु का अर्थ जय प्राप्त करना-जितना ऐसा होता है। अर्थात् जैन शब्द का अर्थ जितनेवाला या विजेता ऐसा होता है। यदि विस्तार से अर्थ किया जाय तो जैन शब्द का अर्थ पांच इन्द्रियाँ और चार कषाय आदि आत्मशत्रुओं को जितनेवाला, माया का उन्मूलन करनेवाला, अविद्या का नाश करनेवाला, मैं और मेरा यह मोहजन्य सांसारिक भावों से पर रहनेवाला होता है। जैनधर्म में जगत की मोजमजाह या भोग-विलास का स्थान नहीं है; परन्तु वह वैराग्यमय अमृत-रस का पोषक है। जगत के आधि-भौतिक सुखों को वह हमेशां दूर ही रखता है। कारण कि इन्द्रियजन्य जो सुख माने गये है वह मोहराजा के खास अनुचर है और वे हमेशां

भवपाश से पराङ्मुख आत्मा को विषयादि नानाविध पाशों से जकड लेता है। परिणाम यह आता है कि इस भवसागरमें आत्मा को परिभ्रमण करना पडता है। देखियेः—पतंग, भ्रमर, मत्स्य, हस्ती और हरिन एक २ इन्द्रियजन्य दोष से दुःख पाते हैं तो जो प्राणी पांचों इन्द्रियों के विषयमें आसक्त रहते हैं वह कौनसा दुःख नहीं पाता है? अतः आत्महितैषी जनों को चाहिये कि—जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप विचारे और आत्मसन्मुख होने के लिये पांचो इन्द्रियजन्य विषयों को पराजित करें। मतलब कि आत्मभावमें हमेशां जागृत रहना यही जैनधर्म का खास मंतव्य है।

जैनधर्म वह सनातन सत्य है :

जैनधर्म का अस्तित्व अनादि काल से चला आ रहा है। प्राचीन से प्राचीन धर्म जो कोई है तो वह जैनधर्म है। नीचे लिखी हुई बातों से यह बात स्पष्ट समजी जा सकती है। बुद्धदेव के पहिले बौद्धधर्म का अस्तित्व न था, जीसिस क्राइस्ट के पहिले क्रिश्चियन धर्म की उत्पत्ति न थी। पयगंबरने मुस्लिम धर्म की स्थापना की इस तरह जैन धर्म किसी पुरुष का स्थापित धर्म नहीं है। तीर्थंकर भगवानों की कई चोविशीयां व्यतित हो चूकी परन्तु जैनधर्म के साथ किसी तीर्थंकर का नाम नहीं जोडा गया। क्यों कि जैन धर्म सनातन सत्य है। महान् तीर्थंकरादि भी धर्म के प्ररूपक कहलाते है—धर्म के स्थापक नहीं। कारण कि वह अनादिकाल से चला आ रहा

है और दूसरी बात यह कि जो सनातन सत्य है उनका कोई स्थापक नहीं हो सक्ता अन्यथा वह सनातन सत्य कहलाने के योग्य नहीं। मोक्ष मार्ग न तो कभी बंध हुआ और न होनेवाला है, उसी तरह भव्य--शून्य कभी न हुआ और न होने संसार का है। यह दोनों बातें हमेशां शाश्वती मानी गई है, उसी तरह इस जगत में सत्य भाव और असत्य भाव, सत्य विचारश्रेणी और असत्य विचारश्रेणी यह भी शाश्वती ही है। जैनधर्म वह सत्य विचारश्रेणी का पोषक है। इसी कारण जैनधर्म वो है जो अनादिकाल से चला आ रहा है। यही कारण है कि प्रो० हर्मन जेकोबी जैसे महान् समर्थ विद्वानों को भी कहना पडा कि " जैन दर्शन एक प्राचीन से प्राचीन विचारश्रेणी है और वह स्वतंत्र दर्शन है। वास्तवमें यह कथन सत्य भी इस लिये है कि जैन धर्म की प्राचीनता ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध हो चूकी है। स्व० योगनिष्ठ, शास्त्र विशारद, जैनाचार्यश्री बुद्धिसागरसूरीश्वरजी महाराजने अपने तत्त्वज्ञान दीपिका नामक ग्रंथमें जैनधर्म विषयक एक विस्तृत उल्लेख किया है जिन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है:—" श्री कल्पसूत्र के आधार से माना जाय तो जैन धर्म के प्रणेता चौविश तीर्थंकर भगवान है। उनमें श्री प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव को हुए कई सागरोपम वर्ष हो गूजरे है यानि जैन धर्म के प्ररूपक श्री ऋषभदेव भगवान को हुए असंख्य वर्ष व्यतित हो चूके हैं। इसी से यह बात निःशंक सिद्ध है कि सर्व धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म प्राचीनतम धर्म है।

योगवाशिष्ठ नामक अन्य दर्शनीय ग्रंथ के आधार से भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। वेद के उपर निर्युक्ति रचनेवाले यास्काचार्य थे। उन्होंने कई जगह शाकटायन व्याकरण के प्रयोग उध्धृत किये है। यह शाकटायन आचार्य जैनधर्मी थे और उनके प्रयोगों से मालुम पडता है कि वे यास्काचार्य के पहिले हुए हैं। और जैनधर्म भी उनके पूर्व समय में मोजूद था। वेदादि ग्रंथो में भी ऋषभ तथा अरिष्टनेमि क्रमश: प्रथम और बाइसवें तीर्थंकर के नाम दृष्टिगोचर होते हैं उस से भी यह बात स्पष्ट है कि वेदों के पूर्व जैनधर्म का अस्तित्त्व था। शब्द के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु इस से ऋषभ और अरिष्टनेमि शब्द का वास्तविक रुढार्थ को छोड कर अन्य अर्थ करे तो भी उनका जो वास्तविक रुढ अर्थ है वह कदापि गुप्त नहीं रह सक्ता। लॉर्ड कनिंगहाम के समयमें मथुरा का टीला (टेकरी) खोदने से जैनों का प्राचीन मंदिर निकला जिन के उपर के लेख से जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। युरोपीयन पंडित मेक्षमूलर कहते हैं कि वेद धर्म के सूत्रों का रचनाकाल करीब तीन हजार वर्ष का कहा जा सक्ता है। उपरोक्त हकीकतों से यह निश्चय होता है कि जैनधर्म प्राचीन से प्राचीन धर्म है। जैसी उनके शब्द पर से सनातन सत्यता सिद्ध होती है वैसी ऐतिहासिक दृष्टिसे भी उनकी सनातन सत्यता पुरवार हो सक्ती है।

जैनधर्म विश्वमें मुख्य धर्म है :

ईस आर्यावर्त्तमें अन्य धर्मों की अपेक्षा वेदान्त धर्म

धर्म प्राचीनतम गिना जाता है। और उन का अर्थ " उत्कृष्ट ज्ञान " ऐसा होता है। यहां विचार करना आवश्यक है कि जगतमें उत्कृष्ट ज्ञान किस से प्राप्त होता है? मनुष्य जब माया का नाश करता है—अविद्या को दूर करता है तब ही उत्कृष्ट ज्ञान यानि कैवल्यज्ञान प्राप्त होता है। यह सीधी–सादी बात सब कोई समज सक्ते है। इस से इतना तो सुस्पष्ट है कि जैनधर्म कैवल्यज्ञान का कारण है तो वेदान्त-धर्म उनका कार्य है। कारण कि—" कारणं विना कार्यं नोत्पद्यन्ते " मतलब कि कारण विना कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सक्ती और कार्य–कारण में कारण की मुख्यता रहती है। धर्म शब्द भी कारणवाचक है। उदाहरणार्थ—" जीवननिर्वाहार्थ भोजन करना यह धर्म है " परन्तु भोजनार्थ जीना यह धर्म नहीं है क्यों कि भोजन करना वह कार्य है। इस तरह धर्म शब्द को भी कारणवाचक शब्द के साथ लगा सक्ते हैं। इस से यह स्पष्ट है कि–जैनधर्म विश्वमें मुख्य धर्म है।

जिनवरमें समस्त दर्शनों का समावेशः*

---

* " षड्दर्शन जिन अंग भणीजे " इस वाक्यपर से भद्रिक आत्माओं को फसाने में दुरुपयोग न हो, अतः उन का वास्तविक रहस्य यहां प्रकाशित किया जाता हैः वह यह कि–शरीर का अमुक भाग–हाथ या अङ्गुली आदि अङ्ग जब तक शरीर के साथ अपनी वास्ताविक फर्ज बजाता है–अंगरुप है; परन्तु जब वह सापेक्ष मिट कर दूरपेक्ष अपेक्षामें जाता है अर्थात् वह अङ्ग सड कर ऑपरेशन के योग्य बनता है तब उस सडा हुआ भाग को काट कर दूर किया जाता है। उस समय

अपने आर्यावर्त्तमें यानि भारतवर्षमें मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, नैयायिक, बौध, मिमांसक, लोकायतिक-चार्वाकादि दर्शनों के विचारों एक-दूसरे के निरपेक्षभावसे उत्पन्न हुए है। जब कि जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिनमें सर्व नयों की सापेक्षता का संपूर्ण ध्येय द्रष्टि सन्मुख रखा गया है। अथवा यों कहिये कि जैनदर्शनरूप समुद्र में सर्व नयरुपी तटिनी (नदीयां) अन्तर्भाव को प्राप्त होती है। जैन सिद्धान्त के पारंगत षड्दर्शनवेत्ता अलख अवधूत योगी श्रीमद् आनंदघनजी महाराज-जो कि वहुधा अरण्यमें ही निवास करते थे-श्री नेमिनाथ प्रभु के स्तवन में कहते हैं कि—

" जिनवरमां सघळां दर्शन छे,
दर्शने जिनवर भजना रे;
सागरमां सघळी तटिनी सही,
तटिनीमां सागर भजना रे ॥ १ ॥

भावार्थः—श्री नेमीश्वर प्रभु के दर्शनमें-जनदर्शनमें सर्व दर्शनों का समावेश हो जाता है अतः वे सब दर्शनों प्रभु के अंग हैं। भिन्न २ एक २ अन्य दर्शनमें सर्वांगी सत्ता द्रष्टिगोचर नहीं होती अर्थात् एकांगी सत्ता होने के कारण ही तदंशे जिनवर भजना कही है। जैसे समुद्र में सर्व नदीयां

वह काटा हुआ अङ्ग वास्तवमें अङ्गरूप नहीं माना जाता उसी तरह सर्व नय-विचार जब तक सापेक्षभाव से परस्पर वर्तते हैं तब तक वे अङ्ग है।

(विजयोदयसूरिजी)

निश्चय से है; परन्तु नदीयामें समुद्र की भजना अंशे है यानि समुद्र की वेल का पानी जिस नदीमें जाता है उस द्रष्टि से नदीमें समुद्र एकदेश से संभवित है।

इस तरह समुद्रोपमा से अन्यान्य दर्शन भी अंशतः जिनवर के ही अंग माने गये हैं। संक्षेप में कहा जाय तो जैनदर्शन के सिवाय जितने अन्य दर्शन हैं वे सब अंशतः सत्य का प्रतिपादन करनेवाले हैं जब जैनदर्शन संपूर्ण सत्य का प्रकाश करता है। यह स्तवन, जैनदर्शन की संपूर्णता और सत्यता दर्शाने के साथ साथ समस्त दर्शनानुयायीयों के साथ सहकार साधने की भी भावना प्रेरता है।

सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों की क्या २ मान्यता है और वे सब दर्शनें जिनदर्शनमें किस तरह अंतर्भूत होते हैं ? ईस बात को जानने के अभिलाषुकों को चाहिये कि वे श्रीमद् आनंदघनजी महाराजकृत श्री नेमीश्वरप्रभु का स्तवन खूब मनन-पूर्वक साद्यंत पढे और विचारे।

जैनों का स्याद्वाद सिद्धान्त :

जैनदर्शन के अनेक सिद्धान्त हैं जिन में स्याद्वाद भी उन का एक परम सिद्धान्त है। स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद भी है। भिन्न २ मताभिलाषीओं के दृष्टिबिन्दु समजने में अनेकान्तवाद जितनी सहाय करता है उतनी एकान्तवाद नहीं कर सकता। स्याद्वाद को कोई ' संशय ' वाद न समझे। क्योंकि संशयवाद वो कहा जाता है कि कोई भी एक वस्तु का

चोक्कस निर्णय नहीं किया जा सके। स्याद्वाद की व्याख्या इस तरह की गई है:—

‘एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध नाना धर्म स्वीकारो हि स्याद्वाद:’

अर्थ:—एक ही पदार्थमें अपेक्षापूर्वक विरुद्ध नाना प्रकार के धर्मों का स्वीकार करना उनको स्याद्वाद—अनेकान्तवाद कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनंता धर्म रहे हुए हैं, वस्तुमात्र को जैसे २ दृष्टिबिंदु से देखा जाय वैसा ही उन का स्वरुप नजर आता है। उदाहरणार्थ रेत को लिजिये : यद्यपि वजन की अपेक्षा से रेतमें भारीपना विशेष है परन्तु लोखंड (लोहा) की रज की अपेक्षा से विचार किया जाय तो उनसे रेत वास्तवमें हलकी ही मालुम पडेगी। इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट मालुम होता है कि मनुष्यमें भी अनेक धर्म रहे हुए हैं। एक ही मनुष्य पिता है, पुत्र है, भत्तीजा है, चाचा है, मामा है और भानजा भी है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी ये सब धर्म एक ही व्यक्ति में पाये जाते है। और वे तब ही सिद्ध होते है जब अपेक्षादृष्टि से उनका विचार किया जाय। मतलब कि पुत्र की अपेक्षा वह पिता हैं, पिता की अपेक्षा वह पुत्र है, चाचा की अपेक्षा भत्तिजा और भत्तिजा की अपेक्षा चाचा, भानजा की अपेक्षा मामा और मामा की अपेक्षा भानजा, इस तरह परस्पर विरुद्ध धर्म भी अपेक्षा दृष्टि से देखने से ही एक ही व्यक्तिमें पाये जाते हैं, और स्याद्वाद सिद्धान्त ही वस्तुमात्र को

अनेक दृष्टिबिंदु से देखने की शिक्षा देता है। परिणाम यह आता है कि वस्तुमात्र का सत्य स्वरुप उनकी नजर के सामने खडा होता है और जगत के समस्त पदार्थोंमें यानि आकाश से ले कर दीपक पर्यन्त अपने देख सक्ते हैं कि सापेक्ष रीति से नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म उनमें रहे हुए हैं।

इस तरह सापेक्ष दृष्टिसे देखा जाय तो तमाम वस्तुओं में अनेक धर्म रहे हुए हैं। श्रीमद् उमास्वाति वाचकने द्रव्य का लक्षण " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् "—उत्पाद (उत्पन्न होना) व्यय (नाश होना) ध्रौव्य (स्थिर रहना) यह लक्षण बताया है। और कोई भी द्रव्य के लिये यह लक्षण निर्दोष माना गया है। इस लक्षण को जीव द्रव्य पर स्याद्वाद दृष्टि से घटाना उपयुक्त होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मद्रव्य नित्य है, परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मद्रव्यको अनित्य भी मानना पडता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य जब एक गति को छोड कर अन्य गति को प्राप्त करता है तब मनुष्य पर्याय का नाश होता है और अन्य गति के पर्याय की उत्पत्ति होती है; परन्तु दोनों गतिमें चैतन्य धर्म तो स्थायी रहता है। अतः आत्मामें कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व का स्वीकार अवश्य करना पडता है। इसी तरह जड पदार्थ का भी उदाहरण लीजियेः सुवर्ण के कुंडल को तोड कर एक हार बनवाया, तो उनमें कुंडल के जो पर्याय थे उन का नाश हुआ और हार के पर्याय की उत्पत्ति हुई। दोनोंमें मूल

चोक्कस निर्णय नहीं किया जा सके। स्याद्वाद की व्याख्या इस तरह की गई है:—

'एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध नाना धर्म स्वीकारो हि स्याद्वाद:'

अर्थ:—एक ही पदार्थमें अपेक्षापूर्वक विरुद्ध नाना प्रकार के धर्मों का स्वीकार करना उनको स्याद्वाद–अनेकान्तवाद कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनंता धर्म रहे हुए हैं, वस्तुमात्र को जैसे २ दृष्टिबिंदु से देखा जाय वैसा ही उन का स्वरुप नजर आता है। उदाहरणार्थ रेत को लिजिये: यद्यपि वजन की अपेक्षा से रेतमें भारीपना विशेष है परन्तु लोखंड (लोहा) की रज की अपेक्षा से विचार किया जाय तो उनसे रेत वास्तवमें हलकी ही मालुम पडेगी। इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट मालुम होता है कि मनुष्यमें भी अनेक धर्म रहे हुए हैं। एक ही मनुष्य पिता है, पुत्र है, भत्तीजा है, चाचा है, मामा है और भानजा भी है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी ये सब धर्म एक ही व्यक्ति में पाये जाते है। और वे तब ही सिद्ध होते है जब अपेक्षादृष्टि से उनका विचार किया जाय। मतलब कि पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, पिता की अपेक्षा वह पुत्र है, चाचा की अपेक्षा भत्तिजा और भत्तिजा की अपेक्षा चाचा, भानजा की अपेक्षा मामा और मामा की अपेक्षा भानजा, इस तरह परस्पर विरुद्ध धर्म भी अपेक्षा दृष्टि से देखने से ही एक ही व्यक्तिमें पाये जाते हैं, और स्याद्वाद सिद्धान्त ही वस्तुमात्र को

अनेक दृष्टिबिंदु से देखने की शिक्षा देता है। परिणाम यह आता है कि वस्तुमात्र का सत्य स्वरुप उनकी नजर के सामने खडा होता है और जगत के समस्त पदार्थोंमें यानि आकाश से ले कर दीपक पर्यन्त अपने देख सक्ते हैं कि सापेक्ष रीति से नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म उनमें रहे हुए हैं।

इस तरह सापेक्ष दृष्टिसे देखा जाय तो तमाम वस्तुओं में अनेक धर्म रहे हुए हैं। श्रीमद् उमास्वाति वाचकने द्रव्य का लक्षण " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् "—उत्पाद (उत्पन्न होना) व्यय (नाश होना) ध्रौव्य (स्थिर रहना) यह लक्षण बताया है। और कोई भी द्रव्य के लिये यह लक्षण निर्दोष माना गया है। इस लक्षण को जीव द्रव्य पर स्याद्वाद दृष्टि से घटाना उपयुक्त होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मद्रव्य नित्य है, परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मद्रव्यको अनित्य भी मानना पडता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य जब एक गति को छोड कर अन्य गति को प्राप्त करता है तब मनुष्य पर्याय का नाश होता है और अन्य गति के पर्याय की उत्पत्ति होती है; परन्तु दोनों गतिमें चैतन्य धर्म तो स्थायी रहता है। अतः आत्मामें कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व का स्वीकार अवश्य करना पडता है। इसी तरह जड पदार्थ का भी उदाहरण लीजियेः सुवर्ण के कुंडल को तोड कर एक हार बनवाया, तो उनमें कुंडल के जो पर्याय थे उन का नाश हुआ और हार के पर्याय की उत्पत्ति हुई। दोनोंमें मूल

वस्तु सुवर्ण था वह तो ज्यों का त्यों कायम है। इस से यह बात स्पष्ट हुई कि प्रत्येक वस्तु में कथंचित नित्यत्व और कथंचित अनित्यत्वरुप स्याद्वाद धर्म रहा हुआ है।

एकान्त नित्य उस को कहते हैं कि कोई भी वस्तु सदाकाल एक ही रुप में यानि पूर्ववत् कायम रहे। एकान्त अनित्य वो है कि टूटने-फूटने से जिस वस्तु का सर्वनाश हो जाय, उनका एक अंश भी दूसरी वस्तुमें न मिल जाय इस तरह उपर लिखे माफिक तमाम पदार्थोंमें नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म रहे हुए। उन धर्मों को सापेक्षदृष्टि से देखना उन्हीं का नाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद का जो सिद्धान्त है उनका वास्तविक स्वरुप विचारा जाय तो वह एक जबरदस्त और विश्वमान्य सिद्धान्त है एसा निःशंक और निर्विवाद कह सक्ते है। यह अनेकान्तवादमें सत्य और अहिंसा उभय का समावेश होता है। समस्त विश्व का यथार्थ स्वरुप अवलोकन करने के लिये स्याद्वाद यह दिव्यचक्षु समान है। उनको यथार्थ रुपमें नहीं समझने से ही अनेक मत मतान्तर और क्लेशों की उत्पत्ति हुई है एवं वर्त्तमानमें भी हो रहा है। परन्तु उनका यथार्थ स्वरुप समझने से अज्ञानता और मताभिमान का नाश होता है। देहशुद्धि के लिये जितनी स्नान की आवश्यक्ता है उस से भी अधिक जरुरत है विचारशुद्धि के लिये स्याद्वाद की।

कोई भी वस्तु उन के विविध दृष्टिबिन्दु से देखी जाय तो

उन के वास्तविक सत्य की तुलना हो सक्ती है। अतः उस से किसी भी प्रकार के कलह को अवकाश नहीं रहता है। समस्त जगतमें स्याद्वाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो सुलेह साम्राज्य की स्थापना कर सक्ता है। इसी कारण उन का यथार्थतया ज्ञान संपादन करने की सब से प्रथम आवश्यक्ता है। श्रमण भगवान महावीर के समयमें एक तर्फ वेदान्त दर्शन एकान्त नित्य धर्म की उद्घोषणा कर रहा था, जब दूसरी ओर बौद्ध दर्शन अनित्य (क्षणिक) वाद की प्ररुपणा कर अपना विस्तार बढा रहा था। परिणाम यह आया कि इस से परस्पर वैमनस्य की भावना उमड उठी और वह भावना तब ही शांत हुई कि जब भगवान महावीर के नित्यानित्यरुप स्याद्वाद धर्म का जल छिड का गया। खास लाभ तो यह हुआ कि न्यायप्रीय तत्वज्ञों को सत्य का भास हुआ और जहां २ धर्म के नाम पर झघडा या वैर–विरोध बढ रहा था वह शांत हो गया। इस तरह स्याद्वाद धर्म का वास्तविक–सत्य स्वरुप निम्न लिखित पांच अन्धों के उदाहरण से समझने योग्य है:—

एक समय पांच अन्धे मनुष्य हाथी को देखने गये। परन्तु अन्धत्व के कारण आंख से देखना उनके लिये असंभव था परन्तु पांचोने मिलकर हाथी के शरीर का एक २ अंग पकड कर मनमें निश्चय कर लिया कि हमने हाथी को ठीक २ पहिचाना है। एक सज्जनने पूछा कि भाई! तुमने हाथी को देखा है? तब जिस अन्ध मनुष्यने हाथी का पांव पकडा था वह झट से बोल उठा कि हां मैंने हाथी को बराबर स्पर्श कर

के देखा है कि हाथी ठीक २ स्तंभ के बराबर होता है। तब दूसरा अंध जिसने कान पकडा था वह बोल उठा कि नहीं नहीं, हाथी तो सूप के समान होता है। अब जिसने दांत पकडा था वह कैसे चूप बैठ सके? वह दोनों की बातों को काट कर बोला कि–तुम किसी को मालुम नहीं है, मैंने बराबर चारों ओर हाथ फिरा कर देखा है कि हाथी बराबर मुसल–सांवेला के समान ही होता है। यह बात सुन चौथा कि जिसने सुंढ पकडी थी उनका मुंह एकदम बिगड गया, वह बोला तुम तीनों झुठे हो–व्यर्थ विवाद करते हो। मैंने अपने हाथों से खूब पंपाल कर देखा है कि हाथी तो ठीक २ केल के स्तंभ जैसा होता है। ये चारों का विवाद सुन पांचवा कि जिसने पूंछ पकडा था उन का मिजाज एकदम गरम हो गया, वह बोला तुम चारों बडे बेवकूफ हो, जिस बात को जानते नही उन की व्यर्थ चर्चा कर समय व्यतीत कर रहे हो? सीधी बात तो यह है कि हाथी और चंवर में विशेष कोई फर्क नहीं है। चंवर देखो और हाथी देखो लगभग समान ही बात है। इस तरह एक २ अंग को पकड कर संपूर्ण वस्तु का निश्चय करनेवाले पांच अन्धों का विवाद परस्पर में बढने लगा। तब किसी नेत्रवान् समझदार व्यक्तिने संपूर्ण हाथी को और उन के अंग–प्रत्यंग को देख कर उन अंधों को समझाया कि भाई! हाथी न तो स्तंभ समान है न सूप जैसा है, न मुसल–सांवेला के समान है और न केल के स्तंभ बराबर है, और न चंवर के समान भी है। आप लोग व्यर्थ क्यों झगडते हो? मैंने अपनी



स्याद्वाद सिद्धांत का अनुपम दृश्य.

आंखो से देखा है कि हाथी वास्तव में एक जबरदस्त प्राणी है और अति सुशोभित एवं उपयोगी जानवर है। आप लोगोंने मात्र स्पर्शद्वारा हाथी का एक एक अंग ही देखा है अतः हाथी का वास्तविक सत्य स्वरुप समझने से दूर हो रहे हो। इस तरह एकान्त मार्ग उन अन्धों की तरह मात्र एक ही अमुक सत्यांश का प्रतिपादन करता है जब अनेकान्तवाद– स्याद्वाद धर्म उस नेत्रवान मनुष्य की तरह संपूर्ण सत्य का प्रतिपादन करता है अतः वस्तुस्थिति को यथार्थ रुपमें पहि- चानने के लिये एकान्तदृष्टि की अपेक्षा अनेकान्त दृष्टि से देखना चाहिये जिस से सत्य तत्त्व की प्राप्ति हो सके। स्याद्वाद सि- द्धान्त की यही महत्ता है।

स्याद्वाद सिद्धान्त के पालन से क्रमशः समन्वय, अविरोध, साधन और फल की प्राप्ति होती है। क्यों कि जहां समन्वय दृष्टि है वहां स्याद्वाद अवश्यंभावी है। जहां स्याद्वाद सिद्धान्त का वास्तविक पालन है वहां विरोधवृत्ति उपशांत हो जाती है। विरोधवृत्ति उपशान्त होने से साधनमार्ग की प्राप्ति और उस से फल की प्राप्ति भी अवश्यमेव है। इस तरह अनेकान्त दृष्टि से आत्मा को अनेक लाभ हांसिल होते है। विश्वमें रहे हुए मताभिमान और कदाग्रह की जड को नष्ट करना हो तो अने- कान्तवाद ग्रहण किये विना छूटकारा नहीं है अतः समस्त तत्त्वाभिलाषीओं को चाहिये कि वे स्याद्वाद मार्ग को जरुर अंगिकार करें, उन के लिये परम हितावह यही एक मार्ग है।

जिस समय धर्मान्धता का प्रवाह खूब जोर से बढा हुआ

था उस समय आर्यधर्म के पक्षपाती धर्मान्ध गुरुओंने अपने २ मताग्रहमें विकल हो इस स्याद्वाद धर्म पर अन्याय किया है यानि परिपक्व दृष्टि विना जो तुच्छ आक्षेप–विक्षेप कर अपनी कदाग्रही बुद्धि का परिचय जगत को कराया है इस से वास्तव में तो सूर्य की सामने धूल फेंकनेवाले की तरह अपने २ धर्म का गौरव घटाया है। क्यों कि सत्य वस्तु कदापि छूपी नहीं रह सक्ती यह वात निर्विवाद है। आज वे ही आर्यधर्म के धर्मान्ध गुरुओं के धुरंधर विद्वान् और समर्थ शिष्य लोग स्याद्वाद धर्म का वास्तविक स्वरुप और उन की विशालता देख कर मुक्तकंठ से प्रशंसा कर रहे हैं। निम्नलिखित अभिप्रायों से पाठक इस वात को भली भांति समझ सकेंगे।

स्याद्वाद धर्म संबंधी अभिप्रायः—

जैनधर्म–स्याद्वाद सिद्धान्त के विषय में पं. लालचंद भगवान गांधीने "जैन पत्र ता. १२ मे १९२९ पृष्ठांक ३४९" में जो उल्लेख किया है उसमें लिखा है कि 'सरस्वती' मासिक के भूतपूर्व संपादक पं० महावीरप्रसाद त्रिवेदीने स्याद्वाद के संबंधमें मर्मस्पर्शी भाषामें इस मुजब अपना उद्गार प्रगट किया हैः—

"काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्री मुख्य अध्यापक श्रीयुत् फणिभूषण वावू एम; ए. महाशयने स्याद्वाद धर्म–जैन सिद्धान्त पर अपना अभिप्राय प्रगट किया है कि:— "जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त अति महत्त्वपूर्ण और आक-

षेक है। उस सिद्धान्तमें जैनधर्म की विशेषतायें भरी हुई हैं। उस विशेपता के प्रभाव से स्याद्वाद–जैनदर्शन की अद्वितीय स्थिति दृष्टिगोचर होती है, परन्तु कईएक लोग स्याद्वाद को केवल गूढ शब्दप्रयोग अथवा हास्यास्पद मानते हैं।

"जैनधर्ममें स्याद्वाद शब्दद्वारा जो सिद्धान्त प्रकाशमान हो रहा है उनको तथारुपमें न समझने के कारण ही कतिपय लोगोंने उस सिद्धान्त का उपहास किया है; वह केवल अज्ञानता का ही प्रभाव है। कईएक महाशय उनमें दोष तथा भिन्न २ अर्थ का आरोपण करना भी नहीं चूके है। मैं तो यहां तक कहने का साहस करता हूं कि इस दोषसे विद्वान् शंकराचार्य जैसे भी मुक्त नहीं है। उन्होंने भी स्याद्वादधर्म प्रति अन्याय ही किया है। साधारण विद्वान् की ऐसी भूल किसी तरह भी क्षम्य मान ली जाय, परन्तु मुझे स्पष्ट कहने की आज्ञा मिले तो कहूंगा कि भारतवर्ष के ऐसे विद्वान् पुरुषों का यह अन्याय हमेशां के लिये अक्षम्य गिनना चाहियें। यद्यपि मैं तो खूद उस महर्षि की तरफ मानदृष्टि से ही देखता हूं तथापि मुझे साफ २ मालुम होता है कि श्रीमान् शंकराचार्यजीने "विवसन समय–अर्थात् नग्न लोगों का सिद्धान्त" यह अनादर सूचक शब्दप्रयोग जैनधर्म के शास्त्रों के विषयमें किया है वह केवल जैन ग्रंथों के अनभ्यास का ही परिणाम है। स्याद्वाद यानि जैनधर्म वस्तुतः सत्यस्वरूप का ही प्रेरक है। मैं एक बात खास जोर देकर कहना चाहता हूं कि–समस्त विश्व को अथवा उन के

किसी एक अंश को यथार्थरूपसे समझने के लिये एक ही दृष्टिकोण संपूर्ण नहीं माना जाता-विविध दृष्टिबिन्दु से ही संपूर्ण सत्य का प्रकाश होता है।

भिन्न भिन्न दृष्टि से देखने पर ही संपूर्ण सत्य को यथार्थ रूपमें जान सकते हैं। वास्तविकमें यह विश्व असंख्य तत्त्व तथा पर्यायों का समूह स्वरूप है और यथार्थ ज्ञानप्राप्ति के साधन इतने अपूर्ण है कि अपने परिचित दृष्टिकोण से प्रायः ही हम संपूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। केवल सर्वज्ञ ही संपूर्ण सत्य को पहिचान सकते है। हम तो एकांगिक विचार और अपूर्ण स्पष्टिकरण के अधिकारी हैं। ऐसी दशामें पूर्ण सत्य की सीमा को हम स्पर्श भी नहीं कर सकते।

(२)

काशी के स्वर्गस्थ प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पंडित श्री राममिश्र शास्त्रीजी सुजन संमेलन नामक पुस्तक में जैन सम्बन्धि प्रथम व्याख्यान द्वारा स्याद्वाद के विषय में कहते हैं कि:-अनेकान्तवाद एक ऐसी चीज है जिस का हरएक को स्वीकार करना पडेगा। इतना कह कर वे विष्णुपुराण के अध्याय ६ द्वितीयांश के श्लोक का निम्न लिखित भावार्थ बतलाते हैं।

पराशर महर्षि कहते हैं कि-"वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है"। इस का अर्थ यह है कि कोई भी वस्तु एकान्तसे एकरूप नही है। जो एक समय सुख के हेतु होती है वही अन्य समय दुःख

के निमित्त होती है। और उसी तरह दुःखनिमित्त वस्तु सुख हेतु भी होती है। यह अनेकान्तवाद नहीं तो और क्या है ?। इस तरह वह महाशय कितनेक हेतु बतला कर, अनेकान्तवाद सब को मान्य करना पडेगा यह जाहिर करते हैं। नैयायिक अंधकार को तेजका अभाव मानते हैं। और मीमांसक तथा वेदांतिक उसको भावस्वरूप कहते हैं। देखने की बात यह है कि आज तक इस का कोइ निश्चय नहीं हुआ। मगर आश्चर्य है कि इस अनिश्चिततामें ही जैनधर्म का अनेकान्तवाद निश्चित होता है। क्यों कि वे तो वस्तु को अनेकान्त स्वरूप मानते हैं। वह चीज किसी एक अपेक्षासे भावस्वरूप भी है और किसी अपेक्षा से अभाव स्वरूप भी है। ऐसे अनेकों तर्क वितर्क कर के उक्त पंडित शिरोमणिने अनेकान्तवाद का अच्छा सा समर्थन किया है।

(२)

गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. आनंदशंकर बापुभाई ध्रुव का अभिप्राय.

प्रोफेसर साहबने अपने किसी एक व्याख्यानमें कहा था कि स्याद्वाद का सिद्धान्त एकीकरण के दृष्टिबिन्दु को हमारे सामने उपस्थित करता है। शंकराचार्यने जो आक्षेप स्याद्वाद पर किये हैं उन का सम्बन्ध मूल रहस्य के साथ नहीं है। यह तो एक मानी हुई बात है कि विविध दृष्टिबिन्दु से निरीक्षण किये विना कोई भी वस्तु पूर्णरीत्या हम ज्ञात नहीं कर

सकते। और इसी लिए स्याद्वाद उपयोगी व सार्थक है। महावीर के सिद्धान्त में बतलाये हुए स्याद्वाद को लोग संशयवाद कहते हैं। मगर मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है मगर वह हमें एक दृष्टिबिन्दु देता है। विश्व निरीक्षण के वास्ते हमें पाठ पढाता है।

(४)

महात्मा गांधीजी का अभिप्राय.

सृष्टिमें परिवर्तन होता है इसी लिए सृष्टि को असत्य अर्थात् अस्तित्व रहित कह सकते हैं, परन्तु (पर्याय भेदसे) परिवर्तन होने पर भी उसका कोई एक ऐसा स्वरूप है जिस रुपमें वह है और इसी लिए वह सत्य है। (वस्तुगतसे) इस लिए अगर उसको सत्यासत्य कहो तो भी मुझे विरोध नहीं है। और इसीसे मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहने में आवे तो कोई बाध नहीं है। केवल मैं स्याद्वाद को जिस तरह पहचानता हूँ उसी तरह माननेवाला हूँ। शायद पंडितवर्ग जिस तरह कहें उस तरह नहीं। अगर वे मेरे साथ वादविवाद करें तो मैं हार जाऊँगा। मैंने अपने अनुभवसे देखा है कि—मैं अपनी नजरमें हमेशा सच्चा होता हूँ और मेरे प्रामाणिक टीकाकारों की दृष्टिमें झुंठा होता हूँ। मगर यह जाननेसे मैं उनसे सहसा झूंठे और प्रपंची नहीं मान सकता। सात नेत्रविहीनोंने हाथी को सात तरह से बताया।

प्रत्येक अपनी दृष्टि से सच्चा भी था और मृषावादी भी था। यह अनेकान्तवाद मुझे बहुत प्रिय है। उसी में से मैं मुसलमानों की परीक्षा मुसलमानों की दृष्टिसे, ईसाइयों की उनकी दृष्टि से करने को सीखा। मेरे विचारों को जब कोई असत्य कहता था तब मुझे पहिले बडा क्रोध आता था। अब मैं उन का दृष्टिबिन्दु उनकी नजरसे देख सकता हूँ। और इसी लिए मैं उनके पर प्रेम कर सकता हूँ, क्यों कि मैं जगत् के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।

जैनों के सिद्धान्त निष्पक्ष है।

श्रीयुत् पंडित लालचंदभाईने 'सरस्वती' नामक मासिक के तंत्रीवर्य का जो स्याद्वाद सम्बन्धि अभिप्राय बतलाया है उसमें अधोभागमें जैनों के सिद्धान्त निष्पक्ष भी है ऐसा भी बताया है। जिस का अवतरण यहाँ दिया जाता है।

जैनों के सिद्धान्त निष्पक्ष और केवल सिद्धान्त भेद की वजहसे आपसमें इर्ष्या-मत्सर आदि से रहित हैं। और उसी वास्ते उल्लेख करते हैं कि---

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषान् विशेषमिच्छन् , न पक्षपाती समयस्तथा ते॥

यह श्लोक श्री हेमचंद्राचार्यने जिनेन्द्र महाप्रभु श्री महावीर देव की स्तुति के लिए कहा है। उसका भावार्थ यह है कि---

हे भगवन् ! आप का सिद्धान्त निष्पक्ष है, क्यों कि उनमें एक ही चीज अनेक दृष्टिसे देखी जाती है, ऐसा आपने बतलाया है। केवल सिद्धान्त भेदसे ही परस्परमें ईर्ष्या, मत्सर होता है, ऐसी स्थिति स्याद्वादमें नहीं हो सकती।





समभाव.

जैनदर्शन, मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग (साधन) समभाव मानता है। यह मार्ग सर्व दर्शनवाले को स्वीकार करने लायक है।

चौदहसो चुंवालीस ग्रंथरत्नों के कर्ता समर्थज्ञानी श्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं कि—

सेयं वरोय आसं वरोय बुद्धो अ अहव अन्नोवा।
समभावभाविअप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो॥

श्वेताम्बर हो कि दिगम्बर हो, बौद्ध हो कि अन्य मार्गानुगामी हो, परन्तु जिसका आत्मा समभावमें रमण करता है वह निश्चयसे मोक्ष को पाता है। इस में कोई संदेह नहीं है। इस परसे स्पष्ट होता है कि मोक्ष का मार्ग किसी का रजिस्टर्ड (Registered) नहीं है। कहावत है कि–" धारे उसका धर्म, मारे उसका हथीआर "। जो आत्मार्थी जन होता है वह हमेशां हंसक्षीरनीर विवेक की तरह मिश्र दूध और जलरुपी तत्त्वातत्त्व से दूधरुपी तत्त्व को अलग कर लेता है और अतत्त्वरुपी जल त्याग देता है। सांसारिक–मायापूर्ण लालसाओं को छोड कर वे अपने आत्माका उद्धार साधते हैं, और धर्म के नामसे अधर्म की जालमें फँसकर अधर्माचरण नहीं करते। संपूर्ण विश्व के प्रत्येक धर्मोंने मनुष्यभव की दुष्प्राप्यता बतलाई है। और वह मनुष्यभव सार्थक करनेकी और सत्यमार्ग को जाननेकी एकमात्र चावी 'समभाव' है। हम नित्यप्रति अनुभव करते हैं कि समुद्र जब भरती की ओर होता है तब जल की उठती लहरोंमें हम उस के उदर की रत्नराशि को नहीं देख सकते मगर जब वह शान्त होता है तब हम उस रत्नराशि को अच्छी तरह देख सकते हैं। उसी तरह मनरुपी सरोवर वासनाओं की लहरोंसे अशान्त होता है तब हम अन्तर आत्मा को पहचान नहीं सकते। मगर मनोवृत्तियाँ शान्त होने पर ही हम समभाव को प्राप्त कर आत्मा के शुद्ध स्वरुप को जान सकते हैं। समभाव मुक्तिमहेल का प्रथम दरवाजा है और इसीलिए जैन शास्त्रकारों ने सामायिक को प्रधान



पार्श्व उपसर्ग

चित्रकार - जयन्तीलाल झवेरी

कमठे धरणेंद्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तुवः ॥

पद दिया है। विना समभाव मोक्षप्राप्ति की आशा वह आकाश-कुसुम के समान है। इसलिए मोक्षार्थी जीवों को चाहिए कि वे प्रथम समभाव की साधना करें। और वही प्रयत्न हितावह भी है। और वह भी सत्य ही है कि जो समताध्यानादिसे पूर्णानंद प्राप्ति के उपायोंमें प्रयत्नवान हैं वेही कर्मरुपी मलसे रहित होते हैं। और अन्तमें शिव—वरमाल को धारण करते हैं। मनुष्य जब समतारुप सुंदर सरितामें स्नान करता है तब ही उसके दिलके मलिन विचार—वासनाओं का लय होता है और भी मनुष्य जब अभेद्य समता के कवच को धारण करता है तब ही वह दुःखोंसे पर हो जाता है और देव, देवेन्द्रों की समृद्धि को इसी संसारमें पाता है। वह अपने आप को सबसे पर समझ कर विषाद के समय उदासी, हर्ष के समय आनंदी नहीं होता। वह समभाव को प्राप्त करता हुआ चिदानंदवृत्तिमें मग्न हो जाता है।

जिसका मन समतारुप अमृतसे प्लावितयुक्त होता है उसको रागद्वेषरुपी नागाधिराज के जहर की वर्षा कुछ भी नहीं कर सकती। इसतरह जहाँ समवृत्ति की प्रधानता है वहाँ ही आत्मिक आनंद भी होता है। सांसारिक लालसाओं को धूत्कार के समान्वित मनुष्य ही विजेता हो सकता है। सम-भाव के ' सम ' शब्दमें वडा ही महत्व और गांभीर्य भरा है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि—जिस आत्माके ज्ञानका परिपाक निरभिलाषा को प्राप्त हुआ है अर्थात् जो शुभ अशुभ

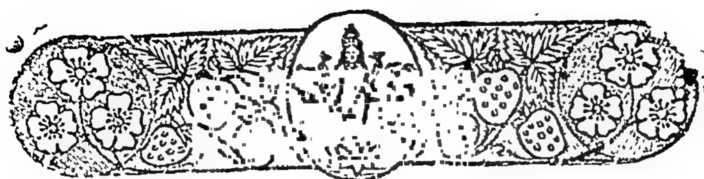
प्रवृत्तियोंसे पर हैं और जहाँ आत्माके धर्मका ही साम्राज्य है वेही आत्मा समस्थिति को प्राप्त करते हैं।

समभावी हमेशां सरल स्वभावी होता और निरभिमान वृत्तिवाला होता है। जिस तरह वह शान्तता का प्रेरक है, उसी तरह वह समानता का भी द्योतक है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति।

इस दीव्यसूत्र का अच्छा परिचय करानेवाला कोई हो तो वह समभाव है। इस लिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे समभाव को प्रथम प्राप्त करें यही हमारे कहने का आशय है।





अहिंसा परमो धर्मः ।

प्रास्ताविक.

अहिंसा वह सर्वमान्य धर्म है । कोई भी शास्त्रकार हिंसा में धर्म है ऐसा बता नहीं सकता । देखो ! महाभारत भी कहाँ तक कहता है :—

" अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ "

" एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव ?
नहि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥ "

(अनुशासन पर्व, ११६ वाँ अध्याय. ३७–४१)

अर्थात्—अहिंसा वह परम धर्म है, अहिंसा परम दान है, अहिंसा वह परम दम है, अहिंसा वह परम तप है। हे कुरुश्रेष्ठ ! ये सब फल अहिंसा के हैं। अनन्तवर्षों तक अहिंसा के गुण कहते चलो मगर पार नहीं पा सकते।

हिंसामें धर्म नहीं होता है—

Marits which accrue from non-injury can never accrue from injury. Lotuses which grow only in water can never have fire as their source 17

अहिंसासे उत्पन्न होनेवाला धर्म हिंसासे पैदा नहीं हो सकता। जलमें उत्पन्न होनेवाले सरोज आगसे कैसे पैदा हो सकते ?। १७

हिंसा का निषेध—

all the creatures from Indra down to a worm like a happiness and Dislike pain.

Taking this into consideration a wise Person Should ever refrain from doing harm (10).

एक छोटेसे कीट से लेकर समर्थ इन्द्रतक सभी जीवों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। ऐसा समज कर बुद्धिमानों को कहीं भी हिंसा का आचरण नहीं करना चाहिए। १० ।

अध्यात्मतत्त्वालोकः ॥

अहिंसा परमो धर्मः ।

जैनधर्म का यह भी सर्वमान्य और सर्वोत्तम सिद्धान्त है। वह मुद्रालेख भी कहा जा सकता है। जिस के यथानुरुप पालनसे जीवात्मा अन्तमें अपना साक्षात्कार करता है। विश्वमें मुख्य दो पदार्थ है, जड और चेतन। संसारी जीवों की स्थिति मिट्टीसे मिश्रित सुवर्णके बरोबर है। सुवर्णमें मिट्टी अनादि समय से लगी है उसी तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। सुवर्ण जब आग में तप्त होता है तब शुद्ध और स्वच्छ होता है वैसे ही आत्मा जब सर्वथा कर्ममलसे मुक्त होता है तब ही वह परमात्मा कहलाता है। और मुक्तगामी होता है। कर्म के उच्छेदमें अहिंसा वह अमोघ और अमूल्य शस्त्र है। पांच व्रत जो दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहत्व नाम से प्रसिद्ध है और जिस का स्वीकार उपनिषदोंने भी किया है वे सभी अहिंसामें अन्तर्भावित है। और इसी लिए अहिंसा वह परम धर्म है।

अहिंसा के दो भेद हो सकते हैं—(१) स्वदया (२) परदया। स्वदया अर्थात् अपना आत्मा कोई भी अशुभ चिंतन, आचरण और कार्य से लिपट न जाय ऐसा वर्त्तन वह स्वदया कही जा सकती है। संक्षेपमें स्वदया अर्थात् आत्मरक्षा करना यह है। परदया अर्थात् परजीवों की रक्षा करना। उनके प्राणों को दुःखी न करना अथवा उनको प्राण से विमुक्त न करना। वास्तविकमें परदया स्वदयामें अन्तर्भावित होती है। क्यों कि अन्य जीवों की रक्षा वह भी अपनी आत्मा के सुख के वास्ते है।

एक समय प्रेसिडेन्ट हुवर कोई सभामें जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने सुवर के बच्चे को कीचडमें फंसा हुआ देखा। और वह विचारा मरने की तय्यारीमें था। यह देख कर प्रेसिडेन्ट हुवरने कीचडमें जाकर उस विचारे को बचाया। मगर उन के सब कपडे कीचड से गन्दे हो गये तथापि वे उस की परवा न करते सभा को चले गए। परन्तु उनके ऐसे गन्दे कपडे देख कर सभी सभाजन चकित हुए और कारण पूछा। उन्होंने सर्व घटना कही। तब सभाजन कहने लगे कि आपने उस विचारे पर दया कर के उसकी जान बचाई। तब प्रेसिडेन्ट महाशयने जो उत्तर दिया वह स्मरणमें रखने लायक है। उन्होंने कहा कि मैंने वह जीव पर दया नहीं की मगर उसको देख कर मेरी आत्मा दुःखी हुई और मैंने अपनी आत्मा के सुख के वास्ते यह कार्य किया, न कि उस जीव परकी दयासे। इस तरह स्वदयामें परदया आजाती है। मगर अकैली परदया वह कर्मबन्ध का कारण होती है। इस लिए उस को अवश्य त्यागनी चाहिए। अकैली परदया यानि जो कोई दया का कार्य कीर्त्ति और मान या ऐहिक लालसा की तृप्ति के वास्ते करना यह है। इससे पुण्य होता है यह सत्य है मगर जैसे पाप को लोहशृंखला के स्वरूप माना है वैसे ही पुण्यको सुवर्ण शृंखला के समान कहा है। इस लिए दया के प्रत्येक कार्य आसक्ति छोड कर करना चाहिए। फलकी आशा भी नहीं करना चाहिए। उपार्जित पुण्य का भी क्षय करना होता है। और उस के क्षय के वास्ते जन्मान्तर भी करने पडते हैं

और इसीमें संसार की वृद्धि होती है। इसी लिए फल की ईच्छासे कभी सत्कार्य नहीं करना चाहिए। और मैं यह कहता हूं, मैंने यह किया ऐसा मिथ्याभिमान भी सत्कार्य में करना न चाहिए। इस से कर्मबंध होता है। निश्चयनय की दृष्टिसे देखेंगे तो कोई किसी को कुछ देता नहीं और कोई किसीसे कुछ लेता नहीं। इस की स्पष्ट समज श्रीमद् महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज विरचित १२५ गाथावाले स्तवन की ४१ वीं गाथा में दी है। उक्त गाथा उस स्तवन से ले कर अर्थके साथ पाठकों के विज्ञानार्थ हम यहां देते हैं। निश्चय नय की दृष्टि से दया का वास्तविक स्वरूप क्या है वह इस गाथा से समज में आता है।

दान हरणादिक अवसरे, शुभ अशुभ संकल्पे।
दिए हरे तुं निज रूपने, मुखे अन्यथा जल्पे॥

कोई प्रतिपक्षी यहाँ शंका उठाता है कि—अगर यह जीव, अन्य जीव को, निश्चय नय की दृष्टिसे जब दानहरणादिक नहीं करता तो जीव को कर्मबंध कैसे होगा? उस शंका के निराकरण में विद्वान् उपाध्यायजी महाराज उक्त गाथा को सन्मुख रखते हैं। गाथा का भावार्थ यह है कि—हे चेतन! तूं पौद्गलिक पदार्थों का दान हरणादिक नहीं करता है। मगर जिस समय तूं दान देता है तब शुभ संकल्प से अपने स्वरूप को दान देता है। आत्मभाव को दानरूप से परिणत कर के शुभकर्म का उपार्जन करता है। और जिस समय

हरणादिक करता है तब अशुभ संकल्प से निजरूप का हरण करता है। आत्मभाव को ही अशुभ संकल्प से हरण रूप में परिणित कर के अशुभकर्म उपार्जन करता है। हे आत्मा ! इस तरह तूं निजरुप का ही दानहरण करता है। शुभ अशुभ संकल्प से आत्मभाव को दानहरणादि रूप से परिणित कर के कर्म बांधता है। पौद्‌गलिक पदार्थ तेरे से भिन्न होने पर मुख से अन्यथा कहते हैं। वे कहते हैं कि—मैंने धनादि का दान दिया, मैंने धन वगेरह की चोरी की। मगर जो तेरा नहीं है उस को तूँ कैसे ले—दे सकता है ? इस पर से सार यह लेने का है कि वाह वाह, कीर्त्ति या लालसा के खातर दया या परमार्थ के कार्य नहीं करते हुए केवल आत्महित के वास्ते और आसक्ति छोड कर करना चाहिए। गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन" हे अर्जुन ! तूँ जो कोई कार्य कर वह आसक्ति को छोड के कर—फलेच्छा को छोड दे। सर्व कार्य निष्काम बुद्धि से और अहंभाव छोड कर करना चाहिए यही कहने का फलितार्थ है और उसी से ही सच्ची स्वदया होती है। जो महात्मा लोग आत्मा को केवल ज्ञायक स्वभाव से ग्रहण करते हैं वेही विश्व में परमसुख को पाते हैं। "यह कार्य का कर्त्ता मैं हूं" "यह कार्य मैंने किया" ऐसा अहम् पद जब किसी पारमार्थिक कार्य के साथ लगता है तब कर्मबन्ध होता है। इस लिए मैं प्रत्येक कार्य अपनी आत्मा के उत्कर्ष के वास्ते करता हूँ ऐसी उच्च भावना हरएक आत्मार्थी को करनी चाहिए जिस से

आत्मश्रेय होगा। और इसी से ही गुप्तदान की महत्ता ज्यादा है। दया ही मनुष्य का उद्धार करनेवाली है। और वही मुक्ति का द्वार है। तुलसीदास तो पुकार पुकार के कहते हैं कि—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छंडीए, जब लग घट में प्राण॥

सभी तप, जप, यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि और योगादि जो यौगिक प्रवृत्तियाँ हैं वे सभी स्वदया के लिए ही हैं। अर्थात् आत्मा की उन्नत स्थिति के वास्ते ही हैं। उस के पालन से आत्मा का कर्ममल नष्ट हो जाता है। और अन्त में आत्मा परमात्मा हो जाता है। जिसने स्वदया अर्थात् अपने आत्मा को पहचाना है वही यथार्थ अहिंसा का पालन कर सकता है। और वही सच्चा मुमुक्षु है और वही विश्ववंद्य या महात्मा होने लायक है। आत्मा प्रथम कर्मबन्धों से जकड जाता है मगर अहिंसा से वह स्वतंत्र हो सकता है—आत्मा का ओजस् प्रगट होता है और उस की सामर्थ्य बढती है। मायिक, पौद्‌गलिक, आसुरी और पाशविक बल ये सब अज्ञानता यानि हिंसामें से पैदा होता है। अहिंसा जितनी प्रबल होती है उतनी ही आसुरी आदि वृत्तियाँ कमजोर होती हैं और आत्मिकसामर्थ्य वृद्धि को पाता है। हिंसाबल वह पशुबल है। अहिंसाबल वह सात्विक बल है। रावण बलिष्ठ यानि आसुरी बलों का अधिष्ठाता था

मगर उस को श्रीराम जैसी महा व्यक्ति के आगे हारना पडा और समरांगण में अपना अस्तित्व मिटाना पडा। इसलिए आसुरीबल चाहे कितना भी क्यों न हो मगर सात्विकबल के आगे वह ठहर नहीं सकता। मेघाच्छिन्न सूर्य जैसे मेघ-खण्डों से मुक्त होता है वैसे वैसे उस का तेज वृद्धि को पाता है उसी तरह आत्मा का अहिंसाबल जितना बढता है उतना उस का सामर्थ्य वृद्धि को पाता है। अहिंसावादी हमेशां अपना आत्मा का सामर्थ्य अहिंसा के बल से बढाता जाता है तब हिंसावादी अधर्माचरण से पापकर्म को बढाता है और अज्ञान-रूपी अंधकार से अशुभ कर्मों को पैदा कर के निस्तेज होता है। जो अहिंसक हैं, सत्यव्रत के पालक हैं वे दुःख और विषाद के बादल उमड आने पर–कष्ट की वर्षा होने पर भी अपने व्रत से तिल भर भी पीछे नहीं हटते थे, वे चूपचाप दुःखों को सहते हैं और दूसरे के कल्याण की भावना करते रहते हैं।

अहिंसा के उच्च तत्त्व आत्मा की उन्नत स्थिति को प्राप्त करने के लिए–परमात्मदशा को पहुंचने के लिए हैं। अतः किसी स्वरूप से किसी विषय में उस को यथास्थित पालन करने में आवे तो अहिंसा के प्रमाण में इच्छित लाभ को बिना दिये नहीं रहते। गुड हमेशां मीठा होता है और जब कभी उस को चक्खो तब वह मीठापन देता है। इसी तरह अहिंसा का कैसा भी पालन हितावह ही होता है। माता भारती के वीरपुत्र महात्मा गांधीजीने जो देश की आझादी के लिए

अहिंसा का अमोघ शस्त्र हाथ किया है और भारत की उन्नति की कुञ्जी हाथ कि है उसी से ही विजय है ऐसी भारत की आज की परिस्थिति देख कर हम कह सकते हैं। हिंसा में हमेशां भय रहता है। भय से मनुष्य कायर हो जाता है और कायर हमेशां पराजय को पाता है। जब अहिंसा में हमेशां निर्भीकता रहती है। निर्भीकता हिम्मत को पेदा करती है और हिम्मतवान हमेशां जय पाता है। हिंसा "पाप के पैसे कभी प्रभुता नहीं लातें" उस की तरह कभी सुख को देनेवाली नहीं होती। उस से पापपुञ्ज का सञ्चय होता है जिस को विना सहन किये चलता नहीं। इसलिए सत्यशीलों को सत्यपालन के लिए अहिंसा से कभी विचलित होना नहीं चाहिए। सत्यशील पर आफतें आती है, संकट की आँधी उस को परेशान करती है, जान का खतरा भी हो जाता है मगर वह कभी क्रोध नहीं करता, गुन्हेगार की ओर प्रेम की निगाह से देखता है और उन की अज्ञानता के लिए वह अफसोस करता है। श्री वीरप्रभु को जब चंडकौशिक काटता है और विषवर्षा करने पर महाप्रभु को अविचलित देख कर फिर काटता है तब महाप्रभु करुणामयी आर्द्र वाणी से कहते हैं–" चंड-कौशिक! शान्त हो, शान्त हो।" वैरी के सामने ऐसी क्षमा को धारण करनेवाले ही विश्ववंद्य हो सकते हैं और वे ही सच्चे क्षमाशील और अहिंसक हैं। एक समय गजसुकुमाल मुनि अपने श्वशुर के ग्राम में भ्रमण करते हुए पधारे। अचानक उन दोनों की मार्ग में भेट हुई। मगर श्वशुर के दिल में मुनिवर्य

को देख कर वैराग्नि भडकने लगी। "इसी दुष्टने मेरी बेटी का त्याग किया है और उस बिचारी को परेशान कि है" एसा विचार कर के मुनिवर्य जब तपश्चर्या में थे तब उन के मस्तक पर आग से भरी सिगडी रख दी। मुनिजी शोचने लगे– "अहा! यह सज्जन मेरे कैसे उपकारी है! संसार में तो उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं दिया मगर आज तो उन्होंने मेरे शीर पर मुक्ति का ताज पहिना दिया।" कैसी उदात्त भावना? इस तरह जब बिलकुल अहिंसक वृत्ति पैदा होती है और संकट की झडियाँ बरसने पर भी जो कभी क्रोध नहीं करता और दयाकी भावना करता है तब ही वह महापुरुष हो सकता है और वह जगद्वंद्य हो सकता है। जिन्होंने कर्म का स्वरूप पहचाना है, आत्मशक्ति और सामर्थ्य का अनुभव किया है वे तो समजते हैं कि जितने जड कर्म नष्ट होंगे उतनी अज्ञानता का लोप होगा। जितनी पाशववृत्ति कम होगी उतनी आत्मप्रभा ज्यादह फैलेगी। जितना संयम ज्यादह होगा उतना ही आत्मसामर्थ्य ज्यादह होगा। इस लिए इस भव में, परभव में या भवोभव में भी कभी हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। उस का संकल्प भी छोडना चाहिए। उस में भी जो व्रतधारी हैं, सत्यव्रत के पालक हैं उन को तो सत्य के लिए शारीरिक कष्टों को हँसते हँसते सह लेना चाहिए। और हिंसा का कभी आचरण करना नहीं चाहिए। आत्मा तो अमर है। वह कभी मरता नहीं। शरीर तो वस्त्रादिक की तरह अनित्य है। आत्मा सहस्रों भव-रूप बंधों में फँसता आया है और जब तक सत्यमार्ग को

क्षमाशीलता का आदर्श दृष्टांत



श्री गजसुकुमार

आनंद प्रेस–भावनगर

नहीं जायगा वहाँ तक फँसता रहेगा। इसलिए आत्मार्थी को चाहिए कि हमेशां अहिंसा का पालन करें। अहिंसा से ही भवरुपी अरण्य नष्ट होगा। संसार में कोई ऐसा उच्च पद नहीं है, कोई स्थिति या सिद्धि नहीं है कि जो अहिंसक प्राप्त न कर सके। और जो अहिंसा अनेक भव में भी दुर्लभ मोक्षसंपत्ति को दिलाने के लिए समर्थ है अगर उस से स्वराज्य या तुच्छ ऐसी राजलक्ष्मी मिल जाय तो आश्चर्य क्या है ?

अपना प्यारा आर्यावर्त्त पुराने जमाने में अहिंसा के उच्च तत्त्वों के पालन से ही उन्नत था। मगर जब वे तत्त्व हमारे व्यवहार में से कम हुए तब ही हमारी अधोगतिने यहाँ अपना अड्डा जगाया है।

प्रकृति से ही हमारा स्वभाव दूसरे का घर जलता हो तो बचाने का है। यद्यपि यह परमार्थ अच्छा है, मगर हमारा घर कहाँ कहाँ जल रहा है उस की भी परवा करनी चाहिए। अर्थात् पर जीवों को बचाना यह सत्कार्य है मगर हम हमारी आत्मा की जो हिंसा करते हैं और उस की परवा नहीं करते वही शोच की कथा है और यही बात अहिंसा विषयक हमारी अज्ञानता बताती है। बाकी सच्चा अहिंसक कभी असत्य कह कर दूसरे को दगा नहीं देता, छल–प्रपंच से दूसरे को ठगता नहीं। किसी भी कषायों में ज्यादह फँसता नहीं और कभी विश्वासघात करता नहीं। संक्षेप से वह कभी किसी के दिल को दुःखी नहीं करता। वह जानता है कि इस में आत्म-

हिंसा होती है। और आत्महिंसा का फल संसार में अनन्त समय तक चक्कर लगाने का होता है। और आत्महिंसा के त्याग के सिवाय कल्याण की आशा आकाशकुसुम के बरोबर है। यह लिखने का आशय केवल यही है कि हरएक को अहिंसा पालन में सावधान रहना चाहिए, अपनी आत्म-हिंसा न हो उस की हमेशां चिंता रखना चाहिए, जिस से मनुष्यभव की सार्थकता हो जाय।

अहिंसापालक मर्द ही होता है। कायर या अधम लोग उस को स्पर्श भी नहीं कर सकते। मारना हरएक जानता है मगर मरना कम जानते है। दूसरे की खातर प्राण विसर्जन करना यही आत्म–सामर्थ्यवान का कर्तव्य है। और सत्य के खातर ही समर्पण करने में आत्मविभूति है। हमारे कितनेक गुर्जरसाक्षर भाई जैनों की अहिंसा को अनादर की दृष्टि से देखते हैं मगर वार्त्तमानिक परिस्थिति को देख कर वे समज गये होंगे कि अहिंसा क्या चीज है ? अहिंसा का पालन कौन कर सकता है ? निर्बल या सबल ?। हमारे सुभाग्य से, देश और विश्व के सौभाग्य से आज वह परम धर्म जगप्रसिद्ध हो गया है। और अन्त में प्रभु महावीर के इस अमोघ धर्मोपदेश से जगत् अपना कल्याण करे यही हमारी इष्टदेव को विनति है।

———卐———



विज्ञान विषयक.

जैनदर्शन जैसे अपने सर्वमान्य सिद्धान्तों से सर्वोत्तम है वैसे उसने विज्ञान के गहरे प्रदेश में भी अच्छा सा प्रकाश डाला है और इस से वह सर्वज्ञकथित है ऐसा भी दावे के साथ कह सकते हैं।

उत्तराध्ययन आदि महान् आगमों के ग्रंथ में श्री गौतमस्वामी भगवन्त श्री महावीरस्वामी को प्रश्न करते हैं कि–" हे प्रभु ! बालक माता के उदर में कैसे रहता है ? क्या आहार करता है ? " ऐसे ऐसे गूढ प्रश्न उन्हों ने पूछे हैं जिनके जवाब प्रभुने बहुत अच्छी तरह से दिये हैं। डोक्टरी अभ्यास कों को भी मेरी सलाह है कि उन को भी किसी अच्छे जिना-

गमज्ञ के पास जिनागमों को देखना चाहिए। मैं कोई आगमों का अभ्यासी नहीं या कोई विद्वान् नहीं, परन्तु जो कुछ पढने में आया उस का अंशमात्र यहाँ देता हूँ। इस परसे पूज्य अर्हंतोंने विज्ञान विषयक क्या २ कहा है वह भी मैं नहीं कह सकता। केवल विज्ञानवेत्ताओं को कोई अच्छे आगमज्ञ के पास उस को पढने की जरुरत है। इतना ही कहना यहाँ काफी होगा।

यह तो प्रत्येक को सुविदित है कि प्राचीन समय में आज की तरह सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं थे और वे निःस्पृहियों को उन की आवश्यकता भी न थी। जिस का दिव्यज्ञान विकसित है, जो इन्द्रियातीत ज्ञान के धारक हैं, जो सर्वज्ञ हैं वे अपने ज्ञानमें सब कुछ देख सकते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य उन की नजरों के सामने होता है।

अब जैनदर्शनकथित विज्ञान की रुपरेखा यहाँ देता हूँ।

(१) जल के एक बिन्दु में असंख्य जीव हैं ऐसा जैन-शास्त्र कहता है। उस में तो यहाँ तक लिखा है कि अगर वे जल के एक बिन्दु के जीव अगर कपोत के जितनी देह धारण करें तो जम्बूद्वीप में वे रह नहीं सकते।

इस विषयक चर्चा जब मैंने नृसिंहाचार्य की तरफ से प्रकाशित "महाकाल" नामक मासिक से पढी तब मुझ को ज्यादह विश्वास हुआ। नृसिंहाचार्य के संप्रदाय की ओर से प्रथम वह

मासिक प्रगट होता था और श्रीयुत छोटालाल जैसे वाहोश, विद्वान् और साक्षर के मंत्रीत्व में प्रकाशित होता था। वह मासिक गुजरात में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चूका था।

(२) वनस्पतिकाय को जैनशास्त्र एकेन्द्रिय जीव मानता है। जिसका निर्णय प्रो. बोझने प्रयोगों से जगत को कर दिखाया है और सिद्ध भी किया है कि जैसे अपने को सुख दुःख होता है उसी तरह उसको भी होता है। मनुष्य के सदृश कितनेक गुण वनस्पति में भी है। 'हास्यवन्ती' हसती है, 'रुदन्ती' रुदन करती है, लज्जावन्ती शरमाती है। इस तरह वनस्पति भी भिन्न भिन्न गुणयुक्त नजर आती है। जैनशास्त्र पृथ्वि-अप-तेउ-वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक-अर्थात् समस्त संसारी जीवों में आहार-निद्रा-भय और मैथुन ये गुण सामान्यतया मानता है।

(३) कंदमूल आदि अभक्ष्य अनन्तकाय हैं। रजस् और तामस् गुण के पोषक हैं। कारण यह है कि वे जमीन में पैदा होते हैं और वहाँ सूर्य का प्रकाश पहुँच नहीं सकता। इस लिए उस में जीव होते हैं। इस बात का समर्थन सायन्स भी करता है। और इसी कारण से जैनशास्त्र उस को अभक्ष्य मानता हैं। आत्मार्थी जीव को तो वह अवश्य छोड देना चाहिए। पुराणों में भी उस का अच्छा उल्लेख है मगर शास्त्रों को देखने की किस को गरज है? कंदमूलादि अभक्ष्य पदार्थ विषयपोषक होते हैं। कितनेक चरबी-मेद को बढानेवाले होते हैं। कितनेक

तामसिक प्रकृति की वृद्धि करनेवाले होते हैं। संक्षेप में वे तामसिक व राजसिक प्रकृत्ति के पोषक होने से धर्माचार्योंने उस का निषेध किया है।

आलू यह चरबी को बढानेवाला है ऐसा अभिप्राय एक अमेरिकन ने हाल में ही दिया है और वह अभिप्राय अमेरीका में प्रकाशित "फीझीकल कल्चर" नामक इंग्लीश मासिक में (जिस की एक लक्ष प्रतियाँ निकलती हैं) आया है जिस का अवतरण हम यहाँ देते हैं।

Mr. L. M. Hainer writes in Physical Culture "February 1928":—"In my case I discovered that by eluminating from my Meals white bread and potatoes, I could take off the excess fat which was slowing me up"

फीझीकल कल्चर में मी. एल. एम. हेनर १९२८ के फेब्रुआरी के अंक में लिखते हैं कि खोराक में से मैंदे की रोटी और आलू को छोड देने से मैं अपनी ज्यादह चरबी को कम कर सका हूँ जिस से मैं परेशान था और जो मेरे प्रत्येक कार्य में आलस्य को लाती थी।

(४) जैनशास्त्र कहता है कि पुरुष के एक दफा के स्त्रीसंभोग से नव–लक्ष जीवों का नाश होता है।

इस के समर्थन में वार्त्तमानिक विज्ञानशास्त्र क्या कहता

है वह देखें। अमेरीका से प्रकाशित ' फीझीकल कल्चर ' के १९२८ के फेब्रुआरी के अंक में ८६ नंबर के पन्ने में इस तरह लिखा हैं।

"It is estimated that a vigorons healthy man leading a moral life develops from one to two million spermatozoa at a time."

ऐसी गिनती करने में आई है कि नियमित जीवन और तंदुरस्तीवाले पुरुष के वीर्य में एक साथ १० से २० लक्ष तक ' स्पर्मेटोझाआ ' (मनुष्य के जीव बीज) पैदा होते हैं।

(५) आकाश द्रव्य अरुपी है। ' अवकाश प्रदान ' यह उस का धर्म है। मगर नैयायिक उस को शब्द का गुण मानते हैं, जिस का विरोध जैनशास्त्रोंने किया है। हम सोच सकते हैं कि शब्द जो रुपी है, पौद्गलिक है वह आकाश जैसी अरुपी चीज का गुण कैसे हो सकता है ? ' वायरलेस-टेलीग्राफी ', ' रेडीओ ', ' टेलीफोन ', 'ग्रामोफोन', तार आदि विज्ञान की नई खोजें शब्द के पौद्गलिकत्व का समर्थन करती है। जैनदर्शन शब्द को भी सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध मानते हैं। और शब्द का पुद्गलत्व सिद्ध करते हैं अन्यथा शब्द को हम पकड नहीं सकते। पुद्गलरुप से वह चौदह लोक में व्यापक माना जाता है। रेडीयो नामक यंत्र शब्दों को हजारों माईल तक सुना सकता है। और भी आशा है कि वह शब्द को इस से भी दूर सुना सकेगा। जैन-

दर्शन अन्य दर्शनों से कितना अग्रगामी है वह इन निम्न लिखित बातों से हम समज सकते हैं।

यह जगत् संकल्प विकल्प की सृष्टि से पैदा होता है। उस के मूलरुप ' शब्द को ' कोई दर्शनवाला आकाश का गुण बतला कर " सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या " अर्थात् ब्रह्म है वही सत्य है और जगत् मिथ्या है ऐसा मानते हैं। और इस जगत को नामरुपमय मान कर—उस को स्वप्नतुल्य—भ्रमतुल्य मान कर उस की उपेक्षा करते हैं। और उस को कोई सत्य नहीं कहता वैसे उस को कोई असत्य भी नहीं कहता या सत्यासत्य भी नहीं कहता मगर " यह कुछ है " ऐसा कहते हैं। और ऐसा कह कर के सृष्टिकर्तृत्व का फंदा ईश्वर के गले में डाल देते हैं। परन्तु वास्तविक में वैसा नहीं है। संसार त्याज्य है और आत्मा का परमात्मपद प्राप्त करना यही अन्तिम ध्येय है ऐसा उस सूत्र का अर्थ करना योग्य है मगर इस से जगत के अस्तित्व का इन्कार करना यह भूल है। " पहले कुछ भी नहीं था, शून्य में से जगत् पैदा हुआ। ईश्वरने उस को बनाया " यह कहना मिथ्या है और अज्ञानता को बतानेवाला है। ईश्वरने अगर जगत को बनाया होगा तो वह किसी जगह तो अवश्य खडा रहा होगा।

इस पर से सिद्ध होता है कि पहले जगत् तो था। वेदान्त के निपुण अभ्यासी स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि जो ऐसा कहते हैं कि ईश्वरने जगत् बनाया वे घोडे के पहिले गाडी

रखते हैं। ऐसा कह कर स्वामीजी उन का उपहास करते हैं।
जैनदर्शन तो मानता है कि—संसार अनादिकाल से ऐसा ही
चला आया है। वह कदापि भव्यों से शून्य नही हुआ, न
होगा। मोक्षमार्ग भी कभी बंध न हुआ और कदापि होगा भी
नहीं। दोनों शाश्वत काल से विद्यमान हैं और रहेगा। अब इस
से नतीजा क्या निकला वह देखें। यह जगत् नामरुपमय है
ऐसा कहकर अन्य दार्शनिक चूप हो जाते है। परन्तु सर्वज्ञोंने
तो नामरुप कैसे होता है? जगत् की विचित्र—रचना किन किन
कारणों से होती है। वह स्पष्ट रीतिसे बताया है और इसलिए
कर्म फिल्सुफी के सेंकडों ग्रंथ पडे हैं, जिस में विना सर्वज्ञ कोई
चंचुपात भी नहीं कर सकता। परन्तु उस के अस्तित्व के वास्ते
त्रिपदी का सिद्धान्त उन्होंने जगत् समक्ष रक्खा है। त्रिपदी
का सिद्धान्त यह है कि—पैदा होना, नाश होना और स्थिर
रहना। वे धर्मवाली वस्तु 'सत्' कही जाती है। (उत्पादव्यय
ध्रौव्ययुक्तं सत्)। इस लिए जो जगत् को 'यह कुछ है'
ऐसा मानते हैं वे सत्यवादी नहीं हैं।

पंचभूत विषयक मान्यता भी उन की भूलों से भी नजर
आती हैं। केवल कल्पना के अश्व दौडते नजर आते हैं। हम
यहाँ उस का उल्लेख करते हैं।

सृष्टि कर्तृत्ववाद की मान्यता

अव्याकृत माया में चेतन का परिस्फुरण होने से उस के
तमःप्रधान माया द्रव्य (जो वर्त्तमान सृष्टि रचना के पहिले

स्तब्ध था) में क्षोभ पैदा हुआ। इस क्षोभ से सभी जगह सूक्ष्म परमाणु हो गये और फिर उस परमाणुओं में रही उत्सारक और आकर्षक शक्तियाँ जागृत हुई। उस से वे सब परमाणु एकट्ठे हुए और उनका भिन्न भिन्न समूह बने। इन समूहों की समूह क्रिया के समय एक एक मध्याबिंदू की ओर अन्य परमाणु आकर्षण से आते हैं और तब सूक्ष्म आघात से सूक्ष्मतम शब्द (ध्वनि) पैदा होता है यह स्पष्ट है। माया के यह प्राथमिक विकाररुप द्रव्य को आकाश कहते हैं। उसका खास गुण शब्द हैं। और उसका स्वरुप अवकाश है। और फिर शब्दगुण सहित आकाशद्रव्य की उत्पत्ति के बाद उस के कितनेक परमाणुओं में विशेष गति पैदा होने से ज्यादह आघात (स्पर्श) पैदा हुआ और उस से यह द्रव्य के परमाणुओं से अग्नितत्त्व की उत्पत्ति हुई। और अग्नितत्त्व के कितनेक परमाणुओं में से रसरूप जलतत्त्व की उत्पत्ति हुई। और जलतत्त्व के कितनेक परमाणुओं में से पृथ्वीतत्त्व पैदा हुआ। इस तरह आकाश–वायु–अग्नि–जल और पृथ्वी यह पांच तत्त्वों के परमाणु अर्थात् तन्मात्रायें प्रथम उत्पन्न हुई। ये सब पंच महाभूत कहा जाता हैं। सृष्टि रचना के आरंभ में कर्त्ताके चेतन का अव्याकृत माया में स्फुरण होता है। और क्षोभ होने के बाद परमाणुओं की आकर्षक और उत्सारक शक्तियाँ जागृत होती है। और परमाणु के समूह टकराते हैं, उस से ध्वनि होता है और फिर वायु होता है।

'योग दिवाकर'

यह ईश्वर माननेवाले को ठीक होता है। और वह केवल कल्पनासृष्टि के तरंग मात्र हैं। और यह कथन सत्य नहीं हो सकता। क्यों कि प्रथम ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता। और जो सर्वज्ञ, निष्क्रिय प्रभु है उस का अव्याकृत माया में स्फुरण कैसे होगा ? सांख्यादि दार्शनिक भी इस का विरोध करते हैं। फिर इस कथन को सत्यता का आधार ही कहाँ रहा ? भूत शब्द ही बतलाता है कि वह कोई जीववाला बीजक होना चाहिए। जैनशास्त्र में पृथ्विकाय, अप्काय, तेउकाय, वायु-काय और वनस्पतिकाय ये पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव कहे हैं। उस के सूक्ष्म और बादर दो प्रकार कहे हैं। जो सूक्ष्म है वह चौदह राजलोक में व्यापक है। वे जलाये जल नहीं सकते, तोडने पर तूट नहीं सकते, केवल सर्वज्ञ या दिव्य चक्षुधारी उस को देख सकते हैं। चर्मचक्षु से वे देखा नहीं जाता। और जो बादर हैं वे स्थूल होने से सभी देख सकते हैं। ऐसा मानने से ईश्वर को भूत बनाने की परेशानी नहीं होती। वे भूत एकमें से दूसरे नहीं हुए मगर व्यक्तिरूप से वे स्वतंत्र ही हैं। उन के शब्दों के अर्थ से भी यह सिद्ध होता है। उन के भेद भी भिन्न भिन्न हैं और वे शाश्वत भी हैं। जिनेश्वर महा-प्रभुने जगत में ६ द्रव्य ही बतलाये हैं। वे सब शाश्वत हैं और उन का अभ्यास हरएक मुमुक्षु को करना चाहिए। ६ द्रव्य ये हैं।

१ धर्मास्तिकाय (गतिक्रियापरिणत द्रव्य)

२ अधर्मास्तिकाय (स्थितिक्रियापरिणत द्रव्य)

३ आकाशास्तिकाय (अवकाश देनेवाला)

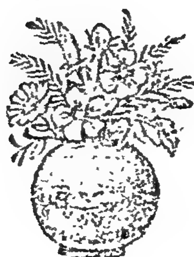
४ पुद्गलास्तिकाय (पुद्गल जिस का गलना, पडना, नाश होना, मिलना, आदि स्वभाव है वह)

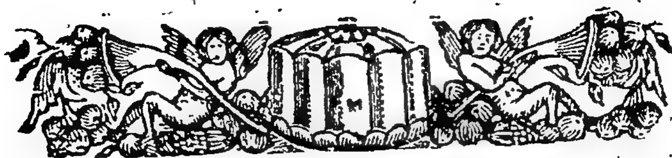
५ जिवास्तिकाय (अनंत वीर्य)

६ काल (नवीन और प्राचीन पुद्गलों का कारणभूत जिस को उपचार से द्रव्य कहते हैं)

तात्पर्य—जैनदर्शन विषयक कुछ लिखने का आशय यह हैं कि–विश्व में सत्यशोधक प्राणी सत्य की खोज करें। और हंस क्षीरनीर विवेक की तरह सार वस्तु को ग्रहण करें। और जैनदर्शन कितना विशाल है, वह सर्वज्ञकथित है, किसी भी दोषापत्ति से दूर है, उस के सिद्धान्त सर्वमान्य हो सकें वैसे हैं, उस में संकुचितता को जरा भी स्थान नहीं है ऐसा समजे और यही कहने का अन्तिम ध्येय है।

प्रसिद्धकर्त्ता.





जैन तत्त्वसार सारांश.



द्वितीय विभाग.

श्रीमान् खरतरगच्छीय वाचक उपाध्याय श्री सूरचंद विबुध विरचित.

जैन तत्त्वसार.

(गुर्जर अनुवाद-रहस्य.)

प्रथम अधिकार.

आत्मा और कर्म का स्वरूप.

संशुद्धसिद्धान्तमधीशमिद्धं, श्रीवर्धमानं प्रणिपत्य सत्यम् ।
कर्मात्मपृच्छोत्तरदानपूर्वं, किञ्चिद् विचारं स्वविदे समूहे ॥

अर्थ—जिस का सिद्धान्त संशुद्ध अर्थात् दोष रहित है, और जो ज्ञानादि अतिशयों से दीप्त हैं ऐसे सत्य परमेश्वर श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार कर के स्व (आत्मा) ज्ञानार्थे कर्म और आत्मा संबंधी प्रश्नोत्तर पूर्वक कुछ विचार बतलाता हूँ।

आत्मा.

प्र—आत्मा कैसा है ?

उ—आत्मा नित्य, विभु, चेतनावान् और अरूपी है।

प्र—आत्मा नित्यानित्य किस तरह है !

उ—आत्मा द्रव्यरुप से नित्य हैं, और मनुष्य, देव, तिर्यंचादि भवग्रहणरुप पर्याय से अनित्य है।

प्र—विभु अर्थात् क्या ?

उ—विभु अर्थात् व्यापक, जिनमें सर्वत्र व्यापक होने की शक्ति होती है, परन्तु सामान्यतः स्वशरीर में ही व्याप्त होकर रहता हैं।

प्र—चेतना का क्या अर्थ है ?

उ—सामान्य और विशेष उपयोग को चेतना कहते है।

प्र—अरूपी का क्या अर्थ है ?

उ—अरूपी अर्थात् रूप, आकार, आकृति या मूर्ति रहित को अरूपी कहते हैं। जिस को वर्ण—गंध—रस और स्पर्श नहीं होवे वे भी अरूपी कहलाते हैं !

कर्म.

प्र—कर्म कैसे होते हैं ?

उ—कर्म जड, रूपी और पुद्गल परिणामवाले होते हैं ।

प्र—जड किसको कहते हैं ?

उ—जो चेतना से रहित है वह जड हैं ।

प्र—कर्म कैसे हैं ?

उ—कर्म रूपी हैं । (कर्म रूपी है मगर अति सूक्ष्म होने से चर्मचक्षुओं से उस को नहीं देख सकते, केवलज्ञानी उस को देख सकते हैं.)

प्र—पुद्गल किसको कहते हैं ?

उ—पुद्गल अर्थात् पूरण, (स्कन्ध की दृष्टि से मिलना) और गलन (क्षय होनेवाला) स्वभाव जिस का है उस को पुद्गल कहते हैं ।

जीव.

प्र—जीव कितने हैं ?

उ—जीव अनन्त हैं ।

प्र—जीव के कितने भेद हैं और वे कौन कौन से हैं ?

उ—जीव के दो भेद हैं । (१) संसारी (२) सिद्ध ।

प्र—संसारी जीव किस को कहते हैं ?

उ—जो कर्म सहित है वह संसारी जीव हैं।

प्र—सिद्ध के जीवों का क्या लक्षण हैं ?

उ—जो संपूर्ण कर्मों से रहित होते हैं वे सिद्ध के जीव कहलाते हैं।

प्र—संसारी जीव के मुख्य कितने भेद हैं। और वे कौन कौन से हैं ?

उ—संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं। (१) स्थावर (२) त्रस।

प्र—स्थावर के कितने भेद हैं और वे कौन कौन से हैं ?

उ—स्थावर के पांच भेद हैं। (१) पृथ्वीकाय, (२) अपूकाय, (३) तेउकाय, (४) वाउकाय, (५) वनस्पतिकाय।

प्र—इन्द्रियाँ कितनी हैं और उन के क्या नाम हैं ?

उ—इन्द्रियाँ पांच हैं। (१) स्पर्शेन्द्रिय (२) रसेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) चक्षुरिन्द्रिय (५) श्रोत्रेन्द्रिय।

प्र—त्रस के कितने भेद हैं और वे कौन कौन से हैं ?

उ—त्रस के चार भेद हैं। (१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय (४) पंचेन्द्रिय।

प्र—स्थावर किस को कहते हैं ?

उ—जो स्थिर रहता है वह स्थावर हैं।

प्र—त्रस जीव किस को कहते हैं ?

उ—जो स्वयं गति-विगति, चलता-फिरता हैं उस को त्रस कहते हैं।

प्र—किस इन्द्रिय में कौन से जीव होते हैं वह बतलाओ ?

उ—पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति यह सब जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। कृमि आदि जीव द्वीन्द्रिय। चींटी आदि जीव त्रीन्द्रिय। भ्रमरादि जीव चतुरिन्द्रिय और देव, मनुष्य, नारक, पशु, पंखी, मत्स्य, सर्प, नकुल आदि पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

प्र—पंचेन्द्रिय के कितने भेद हैं और उन के नाम क्या है ?

उ—चार भेद हैं। (१) देव (२) मनुष्य (३) नारक (४) तिर्यंच।

प्र—वनस्पति के मुख्य कितने भेद हैं और उन के नाम क्या है ?

उ—वनस्पति के मुख्य दो भेद हैं। (१) साधारण (२) प्रत्येक.

प्र—साधारण वनस्पतिकाय किस को कहते हैं ?

उ—जिस का शिर, जोड और गांठ गुप्त होती है अथवा जिस के एक समान टूकडे हो सक्ते हैं अथवा जो तन्तु रहित होते हैं अथवा जिस को काट देने पर भी उगता है ऐसे आदू, हल्दि, गाजर, कुंवारपट्टा, कांदा

इत्यादि को साधारण वनस्पति में गिनते हैं जिस के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। साधारण वनस्पतिकाय की अथवा अनन्तकाय की 'निगोद' ऐसी भी संज्ञा है।

प्र—प्रत्येक वनस्पतिकाय किस को कहते हैं ?

उ—जिस के एक शरीर में एक जीव होता है वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कही जाती हैं।

प्र—पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव के कितने भेद हैं और उस के क्या क्या नाम हैं ?

उ—एकेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं। (१) सूक्ष्म (२) बादर (स्थूल)

प्र—सूक्ष्म किसको कहते हैं ?

उ—जो जीव संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त रहते हैं मगर चर्म-चक्षुओं से नहीं देखे जाते वे सूक्ष्म जीव कहे जाते हैं ?

प्र—बादर किस को कहते हैं ?

उ—जो जीव चर्मचक्षुओं से देखे जाते हैं वे बादर होते हैं।

प्र—जीवों की कितनी योनियाँ (पैदा होने का स्थान) हैं।

उ—८४ लक्ष जीवयोनियाँ हैं।

प्र—योनि का क्या अर्थ है वह विस्तार से कहो ?

उ—जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। उत्पत्ति के

समय जो समान स्पर्श, रूप, रस, गंध और वर्णवाले होते हैं उन की एक प्रकार की योनि कही जाती है।

प्र—कर्म कितने हैं ?

उ—जीव से अनन्तगुना ज्यादह हैं। जीव के प्रत्येक प्रदेश में शुभाशुभ कर्मों की अनन्त वर्गणायें (समूह) होती हैं। उन को सर्वज्ञ ही देख सकते हैं।

प्र—संसारी जीव कैसे होते हैं वह हम को उदाहरण के साथ बतलाओ ?

उ—खान में जैसे सुवर्ण मिट्टी से व्याप्त होता है उस तरह लोकाकाश में संसारी जीव कर्मों से आवृत्त होते हैं।

प्र—भिन्न जाति (स्वभाव अथवा सत्ता) वाले कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है ?

उ—जिस तरह खान में मट्टी और सुवर्ण का, अरणी के काष्ठ में अरनी का और उस में रहे हुए अग्नि का, दूध और उस में रहे हुए घृत का योग समानकाल में ही हुआ होता है। तथा सूर्यकान्तमणि का और तत्रस्थ अमृत का योग समानकाल में ही हुआ होता है। उसी तरह कर्मों का और आत्मा का सम्बन्ध ज्ञानियोंने अनादिकाल से संसिद्ध कहा है।

प्र—आत्मा कर्म से कैसे मुक्त हो सकता है ?

उ—जैसे सुवर्ण अग्नि संयोग से मिट्टी से भिन्न होकर शुद्ध हो जाता है वैसे किसी प्रकार की सामग्री मिलने पर आत्मा कर्म से जूदा हो सकता है ।

' पर्यायकार के कथन पर टिप्पनी ' ।

प्र—जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अगर अनादिकाल से न माना जाय तो क्या दूषण लगता है ?

उ—अगर जीव को प्रथम माना जाय और पीछे कर्म की उत्पत्ति मानी जाय तो कर्म जब न थे तब आत्मा निर्मल और सिद्धदशा में होता हैं, वह कैसे संसार में आ सकता है ? क्यों कि जब कर्म ही नहीं किये हैं तब फल कैसे भुगतना ? और अगर कर्म बिना किये ही फल भुगतना पडे तो सिद्ध को भी कर्मफल भुगतना पडेगा और इस से कृत का नाश और अकृत (नहीं किये) का आगमन इत्यादि दूषण लग जायेंगे ।

(२)

प्र—कर्म को प्रथम माना जाय और पिछे से आत्मा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

उ—वह भी ठीक नहीं है । क्यों कि जैसे मिट्टी में से घट पैदा होता है उसी तरह जीव उत्पन्न हो सके ऐसे उपादान कारण के बिना जीव कैसे पैदा होगा ? और जो

कर्म जीवने नहीं किये हैं उस का फल उस जीव को कैसे होगा ? और विना जीव कर्म कैसे पैदा होंगे ? इत्यादि ।

(३)

प्र—अगर जीव और कर्म एक साथ पैदा हुए माना जाय तो युक्ति युक्त होगा कि नहीं ?

उ—नहीं, वह भी अयुक्त है । अगर जीव और कर्म की उत्पत्ति एक साथ मानी जाय तो वह भी असत् है । क्यों कि साथ में पैदा होनेवाली वस्तुओं में कर्त्ता–कर्म का भेद नहीं हो सकता । और जीवने जो कर्म नहीं किये हैं उस का फल जीव को नहीं हो सकता । और जिसमें से जीव और कर्म पैदा हो ऐसा उपादान कारण भी नहीं हैं । और उस के विना वे स्वयं कैसे पैदा होंगे ? इत्यादि ।

(४)

प्र—सच्चिदानंद जीव अकेला ही है और कर्म है ही नहीं, ऐसा मानना वास्तविक होगा कि नहीं ?

उ—नहीं, यह भी अवास्तविक है । क्यों कि बिना कर्म जगत् की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती । और जगत् की विचित्रता हम देखते अवश्य हैं ।

प्र—जीव और कर्म ये दोनों कुछ भी नहीं है ऐसा माना जाय तो क्या कुछ आपत्ति है ?

उ—नहीं, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्यों कि अगर जीव नहीं है तो इन दोनों की नास्तिता का ज्ञान किस को हुआ ?

सारांश—इस पर से हम देख सकते हैं कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि समय से है। और यह मानना ही युक्ति संगत है।

"अज्ञान तिमिर भास्कर."





द्वितीय अधिकार.

जीव का स्वभाव कर्मग्रहण करने का है।

प्र—कर्म जड हैं तो क्या वे स्वयं जीव का आश्रय ले सकते हैं ?

उ—हां, जैसे लोहचुम्बक लोहे को अपनी ओर खिंचता है वैसे कर्म भी स्वयं आश्रय के वास्ते समर्थ हैं।

प्र—आत्मा बुद्ध (चेतनायुक्त) हैं। और इस कारण से शुभकर्मों का ग्रहण करे यह तो स्वाभाविक है। क्यों कि जीव सुख का अभिलाषी होता है। मगर जब उस को दुःख अप्रिय है तब अशुभ कर्मों को क्यों ग्रहण करता है ?

उ—जीव सुख दुःख के जो पांच हेतु (समवाय) है उन की प्रेरणा से वह समजता हुआ भी शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता है। पांच हेतु के नाम इस तरह हैं।

काल (जिस काल में जो कुछ होनेवाला हो वह)

स्वभाव (जीव को ग्रहण करने का)

नियति (भवितव्यता, होनहार)

पूर्वकृत (जीवने पहले जो कर्म किये वे)

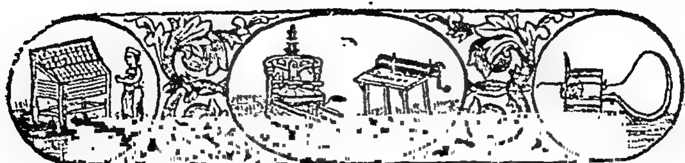
पुरुषकार (जीव का उद्योग)

जैसे कोई धनवान मनुष्य भवितव्यता से प्रेरित होकर स्वादिष्ट मिठाई और खल को जानता हुआ भी खल को खाता है। कोई मुसाफिर इष्टस्थान को पहुँचने के वास्ते शुभाशुभ स्थानों का उल्लंघन करता है। चोर, परस्त्रीगामी, व्यापारी, मतधारी और ब्राह्मण जानते हुए भी शुभाशुभ कृत्य को करते हैं। भिक्षुक, वंदिजन (भाट इत्यादि) और तत्त्वज्ञानी, योगी, भिक्षा को स्निग्ध (घृतादि स्नेह से युक्त) अथवा रस युक्त जान कर के जैसी मिली वैसी आरोगते हैं। युद्ध में घिरा हुआ शूर जानता हुआ भी शत्रु, मित्र की हत्या करता है और रोगी कुपथ्य को जानता हुआ भी भवितव्यता से उस का सेवन करता है।

प्र—जीव, ज्ञान के विना कर्मों को क्या ग्रहण कर सकता है?

उ—विना ज्ञान लोहचुम्बक जैसे लोह को खिंचता है वैसे कालादि से प्रेरित जीव भी विना ज्ञान समीपस्थ शुभाशुभ कर्मों को खिंचता है।





तृतीय अधिकार.

अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों को ग्रहण करता है।

प्र—जीव स्वयं अरूपी होने से हस्तादि और इंद्रियाँ की सहाय के बिना कर्म किस से ग्रहण करता है? किसी को कुछ ग्रहण करना होता है तब वह प्रथम वस्तु का निरीक्षण करता है तत्पश्चात् हस्तादि से उस को ग्रहण करता है। आत्मा वैसा नहीं है तो कर्म को कैसे ग्रहण करेगा?

उ—आत्मा अपनी शक्ति से तथा कालादि से प्रेरित होकर इन्द्रियों की मदद के बिना भविष्यकाल में भोग्य ऐसे कर्मों को ग्रहण करता है। देखो! औषधियां से सिद्ध पारद की गुटिका। यद्यपि उस को हाथ, पैर नहीं होते तदपि दुग्धपान कराया जाता है। रांगा और जल को वह शोष लेती है। शब्दवेध करने की ताकात देती है और शुक्र की वृद्धि करती है तो फिर जिस की अचिन्त्य शक्ति है वैसा आत्मा क्या नहीं कर सकता? और भी देखिए! वनस्पति बिना हाथ-पैर आहार ग्रहण

करती है। श्रीफलादि के मूल में जल डाला जाता है और फल को मिलता है। इतना ही नहीं प्रायः प्रत्येक चीज स्वयं जल को लेकर आर्द्र होती है। इस तरह जीव भी कर्म को ग्रहण करता है।

प्र—वस्तु स्वयं जल ग्रहण कर के आर्द्र होती है तो क्या जल की शक्ति से वह आर्द्र नहीं होती?

उ—अगर जल की शक्ति से ही आर्द्र होती है तो मगशीलीआ पत्थर भी आर्द्र होना चाहिए।

सारांश—संक्षेप में यही लिखने का मतलब है कि जिस को जो चीज ग्रहण करने योग्य होती है, वह उस चीज को ग्रहण करता है। दृष्टान्त के तौर पर लोहचुम्बक वह सब को छोड कर लोहे को ही खिंचता है। इस लिए भवितव्यता के वश होकर जीव तद् तद् कर्मों को ग्रहण करता है। जैसे स्वप्नस्थ मनुष्य मन से अनेक क्रियाओं को करता है। उस समय उस की पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ कुछ क्रिया नहीं करती तब भी क्या आत्मा कर्म को नहीं ग्रहण करता?

प्र—स्वप्न यह क्या भ्रम है?

उ—नहीं, यह भ्रम नहीं है। कभी स्वप्न का भी बडा फल होता है। किसी उत्तम पुरुष को स्वप्न यथार्थ फल देता है। इसी तरह कर्म भी जीव को फल देता है।

प्र—जीव की उत्पत्ति काल से लेकर अवसान तक आत्मा गर्भ में क्या क्या क्रियाएँ करता है वह कहो?

उ—जीव गर्भ में शुक्र और रज (रूधीर) के मध्य में स्थित होकर यथोचित आहार को ग्रहण कर के इन्द्रियों की मदद के बिना- जल्दि से सब धातुओं को पैदा करता है। और रोममार्ग से आहार लेकर खल को त्याग कर के रसों का आश्रय लेता है। और उस के मल को जल्दि जल्दि बल से त्याग करता है। और भी सत्व—रज और तम इन तीन गुणों को धारण करता हुआ सद्‌ज्ञान—विज्ञान—क्रोध—मान—माया—लोभ—हिताहित—आचार—विचार—विद्या—रोग—समाधि आदि को धारण करता है। इस तरह आत्मा विना कर्म की मदद के शरीर के भी-तर की क्रियाओं को करता रहता हैं। और समय संपूर्ण होनेपर जैसे कोई मकान में से किरायेदार चला जाता है वैसें यह आत्मा भी शरीर में से निकल जाता हैं।

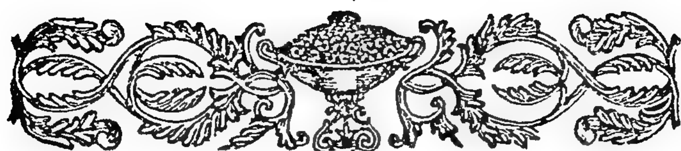
भावार्थ—इस तरह आत्मा शरीर में स्थित होकर, देह में व्याप्त होकर, इन्द्रियाँ की मदद को छोड कर क्रियाएँ करता है। और सूक्ष्म तथा स्थूल रुपी द्रव्यों को ग्रहण करता हैं। तब सूक्ष्मतम कर्मों को भी क्यों ग्रहण न करेगा ?। और यह आत्मा रुप तथा हस्तादि से रहित होने पर भी ऐसे रुपी शरीर को आहार—पानादि इन्द्रियों के विषय में तथा शुभाशुभ आरंभवाले कर्मों में किस तरह प्रवृत्ति कराता है यह बात विचार के योग्य है। अगर जीव के प्रयत्न के विना इन्द्रियादि अङ्ग कार्य करता है तो शब में (मृतक)—कि जब आत्मा निकल जाती है तब—क्रिया होनी चाहिए। इस से सिद्ध होता है कि

आत्मा ही शुभाशुभ कर्मों को करता है। अकेले अंग कुछ नहीं करते। और भी ध्यानी महात्मा बाह्यगत इन्द्रियों की मदद के बिना इच्छित कार्य करता है और जल, पुष्प, फल तथा दीपादि के बिना भी केवल सद्भाव से पूजा सफल करते है वैसे बिना जिह्वा जप करते हैं। बिना कर्ण और सुन भी लेते है। इसी तरह यह जीव भी इन्द्रियाँ और हस्तादि के बिना काल, समवाय आदि से प्रेरित होकर कर्मों को ग्रहण करता हैं।

प्र—जीव के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त कर्म लगे हुए हैं तब वे पिन्डीभूत होकर क्यों नहीं दिखते ?

उ—सूक्ष्मतम कर्म चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जाता, मात्र ज्ञानी-जन ही उन को अपनी दिव्यज्ञान दृष्टि से देख सकते है।

उदाहरणः—किसी पात्र या वस्त्रादि में लगे हुए सुगंध-युक्त या दुर्गंधयुक्त पुद्गलों को नासिकाद्वारा जान सक्के है परन्तु पिण्डीभूत होनेपर भी नयनादिक से देख नहीं सक्के, मात्र केवलज्ञानी ही उन को यथार्थ रूप से देख सक्के है। इसी तरह सिद्ध किया हुआ पारद में सुवर्णादि दृष्टि से देखा नहीं जाता परन्तु जब कोई सिद्ध योगी-पुरुष उन सुवर्णादि को पारद से बहार निकालता है तब ही उन की सत्ता निश्चित होती है। इसी तरह जीव को लगे हुए कर्म मात्र केवलज्ञानी ही जान सक्के है—अन्य कोई नहीं।



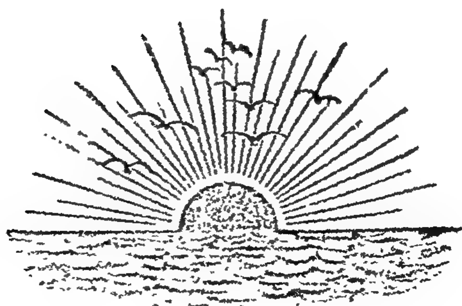
चतुर्थ अधिकार.

जीव और कर्म का संयोग।

प्र० जीव अमूर्त है और कर्मसमुदाय मूर्त है। तब उन दोनों का संयोग कैसे होगा?

उ० जीव की शक्ति से और कर्म के स्वभाव से दोनों का संयोग हो सकता है। गुण का आश्रय द्रव्य है। "गुणानाम आसवो द्रव्यम्" संसारी जीव-द्रव्यका गुण कर्म है। और इसी से गुण गुणी का आश्रय करें तो स्वाभाविक ही है। उदाहरण हम ले सक्ते हैं कि आकाश जो अमूर्त है उस को विचक्षण लोग मूर्त और अमूर्त का, गुरु और लघु आदि सर्व पदार्थों का आधार मानते हैं। और भी विचार कीजिये कि अरूपी आकाश हमेंशां रूपी द्रव्यों को कैसे धारण करता होगा? और भी विषय-

कपायादि को, काम कलागुण क्रियाओं को आत्मा शरीर में अदृश्य रूप से रहने पर भी कैसे धारण करती है ? और यह दृश्यमान देह को भी जीव कैसे धारण करता है, जैसे कर्पूर, हींगादि की अच्छी–बुरी गंध स्थिति के मुताबिक आकाश को आश्रय कर के रहती है वैसे कर्म भी जीव को आश्रय बना कर रहते हैं। इत्यादि प्रत्यक्ष दृष्टान्तों से निश्चित है कि कर्म आत्मा का आश्रय लेते हैं। अगर कोई कहें कि–गुण तो शरीर में रहते हैं तो हम उत्तर दे सकते हैं कि मृत्यु के बाद शरीर होने पर भी वे गुण क्यों नहीं दिखते ? और भी भव्यजीव का स्वीकार करने से आत्मा और कर्म का आश्रयाश्रेय भाव, आधाराधेय सम्बन्ध भी निश्चित कर सकते हैं।





पंचम अधिकार.

मुक्त जीवों को कर्मबन्ध नहीं होता।

प्र० अगर जीव का स्वभाव कर्मग्रहण करने का है तो वह अपने स्वभाव को छोड कर मुक्त कैसे होगा ?।

उ० जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है, परन्तु अमुक सामग्री का संयोग होने पर वह मुक्त हो सकता है। दृष्टान्त यह है कि पारद का स्वभाव चंचल और अग्नि में अस्थिर रहने का है। तो भी अगर उस को तथाप्रकार की भावना देने से पारद अग्नि में स्थिर रहता है। यद्यपि अग्नि दाहक स्वभाववाली है मगर पारा स्थिर रहता है।

द्वितीय दृष्टान्त—अग्नि में दाहकता है। मगर उस पर मंत्र या औषधि से प्रयोग किया जाय तो हम उस में प्रवेश कर

सकते हैं। अग्निभक्षक चकोर पक्षी को अग्नि अपना स्वभाव बदल देने से नहीं जलाती।

लोहचुम्बकपाषाण में लोहग्रहण करने का स्वभाव है। मगर अग्नि से जब वह मारा जाता है या उस के दर्प को हरण करनेवाली कोई औषधि से संयुक्त किया जाता है तब उस का लोहग्रहण करने का स्वभाव नष्ट हो जाता है। वायु का प्रकृतिसिद्ध स्वभाव चंचल है परन्तु जब मशक आदि में निरुद्ध किया जाता है तब वह स्वभाव चला जाता है। अग्नि का स्वभाव जलाने का है परन्तु अभ्रक, सुवर्ण और रत्न-कम्बल तथा सिद्ध पारद को नहीं जलाती तो उस का दाहक स्वभाव उस समय कहाँ जाता है?

सारांश—पारद, लोहचुम्बक, अग्नि आदि में अमूक क्रिया करने पर जैसे मूल स्वभाव नष्ट हो जाता है वैसे जीव का कर्मग्रहण स्वभाव सिद्धदशा में चला जाता है तो क्या आश्चर्य है? *

प्र० सिद्धजीव में कर्मबन्ध कैसे नहीं होता?

उ० धान्यादि का बीज जलने पर जैसे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती वैसे कर्मबीज जलने पर कर्मबन्ध नहीं होता।



---

* शुकादि मुनिगण आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार मूल संज्ञाओं का त्याग कर के परब्रह्मरूप सिद्ध हुए है। शैववद्।



षष्ठ अधिकार.

कर्मों का कोई प्रेरक नहीं है।

प्र० जगत् के प्राणी कर्मों के मुताबिक सुख दुःख को पाते हैं मगर उन कर्मों का प्रेरणा करनेवाली कोई व्यक्ति या ईश्वर होना चाहिए। कारण यह है कि जीव स्वभाव से सुख को चाहनेवाला और दुःख का द्वेष करनेवाला है तो फिर स्वेच्छा से शुभाशुभ कर्मों को वह भोग नहीं सकता।

उ० जीव का स्वभाव शुभाशुभ कर्मों का ग्रहण करने का है। उस को अपने कर्मों के सिवाय कोई सुख दुःख को नहीं देता। जो कर्म के सिद्धान्त को जानते हैं वे कर्म को ही भाग्य, भगवान्, स्वभाव, अदृष्ट या विधाता के नाम से मानते हैं।

प्र० कर्म अजीव, जड हैं इस लिए वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते। कोई प्रेरक अवश्य होना चाहिए।

उ० कर्म जड हैं मगर उस का स्वभाव ऐसा है कि वह किसी की प्रेरणा के विना स्वयं आत्मा को स्वस्वरूप के योग्य फल देता है; और इसी से उस का कोई प्रेरक नहीं है।

प्र० जीवों का कर्म के साथ कैसा सम्बन्ध है ?।

उ० जो जीव अजीव शरीर के साथ सम्वन्ध रख के वर्तमानमें जीवित हैं, भूतकालमें जीवित थे और भविष्यकाल में जीवित रहेंगे; वे सवों का कर्मों के साथ त्रैकालिक संगम है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं।

प्र० यह जगत् कैसा है ?

उ० यह संपूर्ण विश्व षड्द्रव्य और पंचसमवायरूप है।

प्र० षड्द्रव्यों के नाम और उस की पहिचान कराओ।

उ० धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय जीव और काल ये षड्द्रव्यों के नाम हैं। धर्मास्तिकाय गतिमें सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थितिमें सहाय करता है। आकाशास्तिकाय अवकाश देता है। पुद्गलास्तिकाय से जीव आहार—विहारादि को करता है। इस में कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। काल मनुष्यादि सर्व प्रमाणयुक्त वस्तुओं के प्रमाणमें उपयोगी होता है। जीव चेतनावान होता है।

प्र० जीव किस के सामर्थ्य से कर्मों का ग्रहण, धारण, भोग और शमन करता है ?

ध० जीव पंच समवाय (काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुषार्थ) के सामर्थ्य से कर्मों का ग्रहण, धारण, भोग और शमन करता है। और उन्हीं की प्रेरणा से जीव सुखदुःख का भागी होता है। कर्मसमुदाय स्वयं ही स्वकाल मर्यादाओं को प्राप्त हो कर जीव को सुख-दुःख देता है और यह उस का स्वभाव है।

प्र० जीव शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करता है और ग्राह्य स्व-भाव से ग्रहण करते हुएं जानता भी है, अथवा स्वाभि-प्राय से मैं ठीक करता हूँ यह भी जानता है। ये बातें मान्य करने लायक भी हैं, परन्तु कर्म जड होने से भोग काल को कैसे जानें जिस से वे प्रगट हो सकें ? क्या आत्मा दुःख भोगने की इच्छावाला होता है जो दुष्कर्म को आगे करता है। इसलिए दीर्घ काल व्यतीत होने पर कर्म जो आत्मा को सुखदुःख पहुँचाते हैं वे कोई प्रेरक की मदद से ही।

उ० यह ठीक नहीं है। कर्म जड हैं। वे निज भोगकाल को नहीं जानते। और आत्मा दुःखकामी भी नहीं है। तथापि जीव को दुःख होता है और कर्म जड होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सामग्री की तथाप्रकार की अनिवार्य शक्ति से प्रेरित हो कर के प्रकाश में आ कर के स्वकर्त्ता आत्मा को बलात्कार से दुःख देते हैं।

दृष्टान्त यह है कि—कोई पुरुष उष्णकाल में शीतवस्तु का

सेवन करता है। और उस के बाद खट्टा मीठा 'करंभ' अगर खाया जाय तो उस के शरीर में वायु उत्पन्न होता है। और वह वायु वर्षाऋतु के संयोग से अत्यन्त कुपित हो कर के शरद् के संयोग होने पर ही पित्त के प्रभाव से प्रायः शान्त होता है। स्वेच्छित भोजन से वायु की उत्पत्ति, वृद्धि और नाश ये तीन दशायें प्राप्त होने में जैसे काल हेतु है वैसे आत्माको भी कर्मों के ग्रहण में, स्थिति में और शान्त होने में काल ही कारण है। इस तरह आत्मा से उपार्जित कर्मों का काल से ही भोग और शान्ति होती है। यह होने पर भी जैसे उग्र उपायों से काल प्राप्त होने के पहिले भी वातादि शान्त होते हैं वैसे कर्म भी शान्त होते हैं।

कोई स्त्री अन्य की प्रेरणा के बिना किसी पुरुष से संभोग करें और उस का विपाक काल परिपूर्ण होने से प्रसव के समय उस को सुख और दुःख होता है उसी तरह जीव के स्वकृत शुभाशुभ कर्म किसी की प्रेरणा के सिवाय स्वकाल को प्राप्त हो कर के जब प्रगट होते हैं तब जीव को सुख और दुःख देते हैं।

सिद्ध या असिद्ध पारद कोई रोगी खा जाय और उस का जब स्वकाल प्राप्त होता है तब वह सुख दुःख को पाता है, अथवा दुर्वात शीतांगक या सन्निपातादि रोग जिस शरीर में रहते है उस शरीर को स्वकाल प्राप्त होने पर दुःख देते हैं। और भी चेचक, शीतला आदि बालरोग की गरमी की असर छे मास तक शरीर में रहती है। और क्षय, अक्षिबिन्दु, उदघत,

पक्षघात, अधांग और शीतांग आदि रोगों का परिपाक सहस्र दिन के पश्चात् शास्त्रविशारद वैद्यलोग ज्ञानबल से कहते हैं। जैसे कृत्रिम विष तत्काल नाश करनेवाला या मास, दो मास, वर्ष या दो वर्ष के बाद नाश करनेवाला होता है उसी तरह कर्म भी अनेक तरह के और भिन्नभिन्न स्थिति के होते हैं जो स्व स्वकाल को प्राप्त होने पर स्वयं ही स्वकर्ता जीव को तादृश फल देते हैं। जैसे वसन्त, हेमन्त, वर्षादि ऋतुयें स्वकाल को प्राप्त हो कर मनुष्यों को सुखदुःख देती हैं उसी तरह कर्म समुदाय भी स्व स्वकाल को प्राप्त हो कर के किसी की प्रेरणा के बिना आत्मा को सत्वर सुखदुःख पहुँचाती है। और भी जैसे पित्त से उत्पन्न ज्वर दश दिन, कफ से बार दिन, वात से सात दिन और त्रिदोष से पैदा हुआ ज्वर पंदरह दिन रहता है उसी तरह कृतकर्मों का स्थितिकाल भी भिन्नभिन्न होता है।

और भी आत्माने जिस तरह के पूर्व आचरण किये हो उसी तरह के ग्रह भी जन्मकुण्डली में आते हैं। उन ग्रहों का फल जैसे महादशा, अंतर्दशा सहित स्वस्थिति के मुताबिक—किसी की प्रेरणा के बिना स्वभाव से ही भोगे जाते है उस तरह अन्यकर्मों से अंतरित (अन्य जो कर्म आत्माने किये हो उस का फल परिपाक काल आने पर स्वयं ही भोगे जाते हैं। परन्तु कभी कभी जैसे स्वादिष्ट भोजन शरीर में तत्काल ही वातादि को पैदा करता है उसी तरह उग्र कर्म भी आत्मा को तत्काल ही फल देता है। और भी जैसे कोई रोगी

औषधिपान के समय नहीं जानता है कि यह हितकारी या अहितकारी है मगर जब उस का परिपाक काल आता है तब सुख या दुःख देती है उसी तरह कर्मग्रहण के समय जीव उस की शुभाशुभता को नहीं जानता किन्तु कर्मों के परिपाक के समय वे कर्म सुख या दुःख अवश्य देते हैं।

प्र० कर्म कितने प्रकार से उदय में आते हैं वह दृष्टान्त के साथ बतलाओ।

उ० कर्म चार प्रकार से उदय में आते हैं।

प्रथम प्रकार—इधर ही किया अच्छा या बुरा कर्म इधर ही उदय में आता है। दृष्टान्त के तौर पर जैसे सिद्ध पुरुष या राजा को दी हुई स्वल्प वस्तु भी लक्ष्मी को लाती है और चौरी आदि अप्रशस्त कार्य यहाँ ही नाश के लिये होता है।

दूसरा प्रकार—इस भव में किया कर्म अन्य भव में उदय में आता है। जैसे तपोव्रतादि प्रशस्य आचरणों से देवत्वादि मिलते हैं। और विरुद्ध आचरणों से नरकादि मिलते हैं।

तीसरा प्रकार—पूर्वजन्म में कृतकर्म इस जन्म में सुख दुःख को देनेवाला होता है। जैसे किसी गृहस्थ के वहाँ जब पुत्र का जन्म होता है तब दरिद्रता बढने लगती है, माता आदि का वियोग होता है और जन्मकुण्डली में ग्रह भी अच्छे नहीं आते जब अन्य किसी गृहस्थ के वहाँ पुत्रजन्म से ऐश्वर्य,

संपत्ति और सुख बढ़ता है और उस के सुकर्म से माता आदि का सुख भी होता है और जन्मपत्रिका में ग्रह भी अच्छे आते हैं।

चौथा प्रकार—पूर्वजन्म में कृतकर्म पूर्वजन्म में ही फलदायी होते हैं। अर्थात् इस भव में किया हुआ कर्म इस भव में नहीं, इस के बाद के भव में भी नहीं मगर उस के बाद के भव में आत्मा को फलदायी होता है। दृष्टान्त यह है कि—कोई इस जन्म में उग्र व्रत तपश्चर्या आदि करे मगर उस के पहले अगर देव या तिर्यंचादि भवों का आयु निर्माण कर लिया हो तो व्रत के प्रभाव से—दीर्घायुवाला कोई भोगने योग्य बडा फल—उस के बाद के भव में द्रव्यादि सामग्री का तथाप्रकार का उदय हो तब ही प्राप्त होता है।

जैसे कोई मनुष्य यह चीज कल को काम आयेगी ऐसा समज कर आज उस का उपयोग न करते हुए सम्हाल के रख लेता है और फिर योग्य समय को जैसे उस का उपयोग करता है उसी तरह कर्म की स्थिति मान लेनी चाहिए।

प्र० कर्म कितने प्रकार की अवस्थावाले होते हैं ?

उ० कर्म तीन प्रकार की अवस्थावालें होते हैं। (१) भुक्त. (२) भोग्य और (३) भुज्यमान। ये सब स्थितियाँ शुभ अशुभ को समान होती हैं।

प्र० भुक्त, भोग्य और भुज्यमान अर्थात् क्या ?



सप्तम अधिकार.

मुक्तिमार्ग कभी परिपूर्ण नहीं होगा
और
संसार कभी भव्यशून्य नहीं होगा ॥

प्र० मुक्तिमार्ग नदी के प्रवाह की तरह हमेशां जारी ही रहेगा और संसार कदापि भव्यशून्य नहीं होगा ये दोनों परस्पर विरुद्ध वाक्य कैसे ठीक होंगे यह उदाहरण के साथ समजाइए।

उ० नदीओं के उद्गमस्थान से जल का प्रवाह हमेशां प्रवाहित हो कर के समुद्र में जाता है मगर उद्गमस्थान कभी जल से खाली न हुआ और जलप्रवाह स्थित भी न हुआ और समुद्र कभी पूर्ण भी न हुआ। इसी तरह हमेशां भव्यजीव संसार को छोड के मुक्ति को जाते है किन्तु

संसार कभी खाली न होगा, और न भव्य जीवों का अभाव होगा और मुक्ति कभी पूर्ण भी नहीं होगी ।

और भी जैसे कोई अलौकिक बुद्धिवाला मनुष्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त तीन लोक के (स्वर्ग, मृत्यु, पाताल) सर्व शास्त्रों का, हिन्दुओं के षट्दर्शनों का और यवनशास्त्रों का भी आत्मशक्ति से सेवन करता हुआ असंख्य वर्षीय आयुष्य का पालन करें तथापि शाश्वत पाठ से उस का हृदय कभी शास्त्राक्षरों से पूर्ण नहीं होगा और शास्त्राक्षर भी कम नहीं होंगे और शास्त्र खाली भी नहीं होंगे । इसी तरह संसार से भले कितने-ही भव्य मोक्ष में चले जाय तथापि मुक्ति परिपूर्ण नहीं होगी, भव्यों का अभाव नहीं होगा और संसार रीता भी नहीं होगा । इस से स्पष्ट समजना कि मोक्षमार्ग सदैव विना अंतराय के बहता रहेगा और संसार भी कभी भव्यशून्य नहीं होगा ।





अष्टम अधिकार.

प्र० मुक्ति कैसे होती है ?

उ० आत्मज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति होती है।

प्र० अन्य संप्रदायवाले मुक्ति किस से मानते हैं ?

उ० वैष्णव विष्णुसे, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्म से, शैव शिव से और शाक्तिक शक्ति से मुक्ति को मानते हैं। उन के मत में आत्मज्ञान मुक्ति का कारण नहीं है।

प्र० विष्णु का क्या अर्थ है।

उ० विष्णु शब्द से आत्मा ही वाच्य--बोध्य--समजने योग्य है। आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त होता है; तब वह संपूर्ण लोकालोक का स्वरूप जानता है। अर्थात् ज्ञान वही आत्मा और उस से सर्वत्र व्याप्त होने से आत्मा ही विष्णु है।

प्र० ब्रह्म अर्थात् क्या ?

उ० ब्रह्म का अर्थ भी आत्मा है। निज शुद्ध आत्मभाव अर्थात् परब्रह्म ऐसी संज्ञा जिस को दीयी है उस की भावना करने से आत्मा ही ब्रह्म है।

प्र० शिव अर्थात् क्या ?

उ० शिव अर्थात् शिव–निर्वाण–मोक्ष प्राप्त करने से और शिव का कारण होने से आत्मा ही शिव है।

प्र० शक्ति का क्या अर्थ है ?

उ० शक्ति अर्थात् स्व आत्म वीर्य–शक्ति–उपयोग में लाने से आत्मा ही शक्ति है।

तात्पर्य—इस तरह विष्णु आदि शब्दों से आत्मा ही समजना और आत्मा से–आत्मज्ञान से ही मुक्ति है, अन्य किसी से मुक्ति प्राप्त नहीं होगी ऐसा विचार हमेशां हृदय में रखना चाहिए।

प्र० अगर आत्मज्ञान से मुक्ति न होती हो और केवल विष्णु-प्रमुख से होती हो तो क्या विरोध है ?

उ० अगर विष्णुप्रमुख से ही मुक्ति मिलती हो तो वैष्णवादि सन्त और गृहस्थ विष्णुप्रमुख की ही पूजा और जाप करें मगर तप, संयम, निःसंगता, रागद्वेष का निवारण, पञ्चेन्द्रिय के विषयों से निवृत्ति, ध्यान और आत्मज्ञानादि क्यों करते हैं ? यह स्पष्ट करना चाहिए।

प्र० तप, संयम आदि विष्णु की ही सेवा है ऐसा माना जाय तो क्या विरोध है ?

उ० प्रथम सवाल यह उपस्थित होता है कि 'वे किस से प्रवृत्ति में आया'। अगर विष्णुप्रमुख से कहा जाय तो विष्णु को वाणी या हाथ पैर आदि कुछ नहीं है तब वह कैसे अन्य को ज्ञात करवा सकता है। कारण यह है कि विष्णु तो निष्क्रिय हैं और निष्क्रिय को सक्रिय कहना यह तो मूर्खता है।

लोक रुढी में मान्य कामलीला आदि शृंगार साधनों में प्रवृत्त तथा सृष्टि के उत्पत्ति–लय–स्थिति के कारणरूप विष्णु–ब्रह्मा और शिव यहाँ ग्रहण करने के नहीं हैं मगर जिस का शुद्ध स्वरूप बतलाया है उस शुद्धात्म स्वरूप को ही ग्रहण करने का हैं। विजयोदयसूरि.

प्र० तप, संयम आदि प्रवृत्तियाँ किस से हुई ?

उ० वे अध्यात्मयोग से हुई। उस के सिवाय वे प्रवृतियाँ नहीं हो सक्ती। अगर ऐसा कोई कहे कि विष्णु के भक्त योगियोंने कीयी तो ऐसा प्रश्न खडा होता है कि–उन को वे प्रवृत्तियाँ किसने समजाई ? तब कहना ही होगा कि वे अध्यात्मयोग से हुई। अध्यात्मयोग के प्रणेता विष्णु नही हो सकते क्यों कि वे निष्क्रिय हैं। इस लिए संक्षेप में यही लिखने का है कि आत्मज्ञान से ही अध्यात्मयोग होता है।

प्र० अध्यात्मयोग किस से आर्विभाव को पाया ?

उ० अध्यात्मयोग योगियों से प्रगट हुआ और योगियोंने भी आत्मज्ञान से ही अध्यात्मयोग को पहिचाना अन्य से नहीं; अर्थात् निष्क्रिय, निरिन्द्रिय, निरंजन और एक स्वरूप विष्णुप्रमुख से नहीं जाना।

प्र० अध्यात्म योग किसको कहना ?

उ० स्व-आत्मा से समभाव करने से-रागद्वेष के जाने से अपूर्व आत्मलाभ से और संपूर्ण द्रव्यों के यथास्थित दर्शन से जो ज्ञानबोध होता है उस को अध्यात्म योग कहते हैं।

प्र० अध्यात्म योग कैसे होता है ?

उ० वह स्वत: सिद्ध है।

प्र० स्वभाव से मुक्ति मानी गई है सो कैसे और इस का क्या अर्थ है ?

उ० स्व अर्थात् आत्मा, उसका भाव वह स्वभाव। भव शब्द 'भू' धातु पर से हुआ है जिस का अर्थ प्राप्ति है। इस लिए उस का भी अर्थ प्राप्ति करना योग्य है। और ऐसे अर्थ को स्वीकारने पर स्वभाव का अर्थ आत्म-प्राप्ति-आत्मलाभ और आत्मज्ञान से मुक्ति निश्चित है।

प्र० मुक्ति मार्गको रोकनेवाले कौन हैं ?

उ० मुक्तिमार्ग को रोकनेवाले कषाय हैं।

प्र० कषाय का अर्थ क्या है ?

उ० ‘ कष ’ अर्थात् संसार और ‘ आय ’ अर्थात् लाभ; अर्थात् जिस से संसार का लाभ–वृद्धि होती हो उस को कषाय कहते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

प्र० यह आत्मा मोक्ष में कब जाता है ?

उ० जब तक यह आत्मा कषाय और विषय को सेवन करता है तब तक संसार में ही है। और आत्मज्ञान होने से जब कषाय–विषय और कर्म से विमुक्त होता है तब ही मोक्ष में जाता है।

प्र० ज्ञान, दर्शन और चारित्र उदय में आये ऐसा कब गिनना ?

उ० आत्मशक्ति–आत्मज्ञान प्रगट होने से आत्मामें आत्माको सम्यक् प्रकार जानते हैं और तब ही वह जीव को ज्ञान, दर्शन और चारित्र उदय में आये ऐसा गिनते हैं।

प्र० आत्मा शरीरों को कहां तक धारण करता है ?

उ० चिद् रूप स्वभाववाला यह आत्मा कर्म के प्रभाव से जहां तक उस का अस्तित्व रहता है वहां तक शरीर को धारण करती है।

प्र० निरंजन अर्थात् क्या ?

उ० आत्मा जब ध्यानरूप अग्नि से समस्त कर्मरूपी ईन्धन को जलाता है तब शुद्ध होती हैं और निरंजन कहलाता है।

प्र० मुक्ति का कोई ऐसा भी मार्ग है कि जो सर्व दर्शनों को सभी मतों को अनुकरण करनेवाला हो, और अध्यात्मविद्या की

प्राप्ति में भी हेतुभूत हो और जिसके कारण विना परिश्रम से ही शीघ्र आत्मज्ञान हो जायं ?

उ० हाँ, आत्मा शुद्ध बुद्ध होने पर भी भ्रम से जकडी हुई है और वह भ्रम दूर हो जाने पर मुक्तिको प्राप्त होता है वह मुक्ति का सरल मार्ग है ऐसा हर एक दर्शनवाले और योगीलोक भी मानते है। योगी भ्रम को–कर्म–मोह, अविद्या, कर्ता, माया, देव, अज्ञान इत्यादि शब्दों से पहिचानते हैं।

प्र० भ्रम अर्थात् क्या यह उदाहरण के साथ बतलाईए।

उ० अतद् वस्तु में तद्वस्तु का ग्रह स्वीकार करना यह भ्रम है स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता, द्रव्य, शरीर आदि अनात्मीय हैं। इस भव में नहीं जा सकते ऐसा होने पर भी आत्मीय वस्तु की तरह मानना यह भ्रम है।

प्र० मिथ्यात्व किस को कहते हैं ?

उ० संसार में और शरीरमें स्थित–वर्तमान सुंदर (मनोरम) वस्तु में प्रेम रखना और दुर्वस्तु में दुष्ट मनोवृति रखना यह मिथ्यात्व है।

प्र० सम्यग्ज्ञान किस को कहते हैं ?

उ० मन में से रागद्वेष को निकाल के समभाव और वीतरागदशा का अनुभव करना यह सम्यग्ज्ञान है।

प्र० भ्रमसे किस तरह आत्मा कर्मपाशमें फसता है यह दृष्टान्त के साथ समझाओ।

३० बंदरों को (कपि) पकड ने के लिए चने से भरा हुआ पात्र (जिसका मुंह बहुत छोटा होता है) रक्खा जाता है। बंदर चने को खाने के लिए वहाँ आते हैं और हाथ डाल के चनोंको लेनेका प्रयत्न करते हैं किन्तु पात्रका मुंह छोटा होने से तथा बंदर का हाथ चने से भरा हुआ होने से हाथ नहीं निकलता, तब बंदर शोचता है कि किसी ने मेरे हाथ को पकड लिया है और वह चिल्लाना शुरु करता है उस समय पकडनेवाले उसे पकड लेते हैं। अगर बंदर समज के भ्रमको छोड कर हाथ खाली कर के चला जाय तो बन्धन में नही आता।

शुक को पकड ने के लिए किसी पेड पर एक चक्र लगाया जाता है और चक्र की कणिका के उपर एक करेला रक्खा जाता है। वह करेला अपना भक्ष्य है ऐसा समज के—भ्रम से वहाँ आकर के बैठता है। और बैठने के साथ वह चक्र घुमने लगता है। शुकको यद्यपि किसीने पकडा नहीं है मगर भ्रम से वह अपने को पकडा हुआ या किसी जाल में फँसा हुआ समजता है और उस के साथ घूमने लगता है। इतना ही नहीं किन्तु उस को अपना इष्ट समजके चिपका रहता है और चिल्लाता है और उस की चिल्लाहट सुनकर के पकडनेवाले पकड लेते हैं मगर शुक भ्रम—शंका रक्खे विना उड जाता है तो मुक्त हो जाता है और बन्धन में नहीं आता। इसी तरह आत्मा भी कर्म से बद्ध होता है अर्थात् बहिरात्मभाव से क्या आचरण करने का

है और क्या ग्रहण करने का है इन विचारों से रहित होता हुआ इन्द्रियों के विषय में आसक्त होनेसे कर्मबन्ध होता है।

प्र० आत्मा मुक्त कैसे होता है ?

उ० अन्तरात्मा से हेयोपादय के विचार के साथ विषयसुख से पराङ्‌मुख होता है अर्थात् संसार की हरएक चीज से राग द्वेष को छोड़ देता है और तब संसार में रह ने पर भी वह मुक्त होता है और तब वह अन्तरआत्मा को केवलज्ञान प्रगट होने से परमात्मदशा को पहुँच जाता है।

प्र० जब आत्मा यह भ्रम से रहित होती है तब उस की दशा कैसी मुक्त होती है ?

उ० जब आत्मा भ्रम से रहित होता है तब वह संपूर्ण ममत्व भाव से दूर होता है। मन-शरीर-सुख-दुःख और विचार से वह शून्य होता है। मुक्त होने से पुण्य-पाप नहीं लगते। मन विजित होने से उसको यह मेरी क्रिया-यह मेरा काल-यह मेरा संग-यह मेरा सुकृत इत्यादि के भेद भी नहीं होते।

प्र० मुक्त आत्मा जब तक शरीर को धारण करता है तब तक उस को कोई क्रिया होती है या नहीं ?

उ० इस लोक में जब तक होता है तब तक उस से सूक्ष्म क्रियाओं होती हैं अर्थात् वह निष्क्रिय नहीं होता। यह सूक्ष्म क्रियाओं से जब वह मुक्त होता है तब वह सिद्ध होता है।

प्र० निष्क्रिय सिद्धों में ज्ञान से और दर्शन से होनेवाली क्रियाओं क्या सिद्धों को नहीं होती ?

उ० ज्ञान और दर्शन से होनेवाली क्रियाओं सिद्धत्व को प्राप्त सिद्ध में नहीं होता। अगर प्रश्न किया जाय कि यह कैसे समजना तो उस का प्रत्युत्तर यह है कि सिद्धत्व प्राप्त वे सिद्ध जब उस संसार में मुक्तदशा में थे तब उन को कैवल्य की प्राप्ति हुई थी अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन हो गया था और तब ही ज्ञान और दर्शन से होनेवाली क्रियायें एकीसाथ में हो गई थी। देखने योग्य और ज्ञात करने योग्य भूत–भविष्य और वर्तमान के सब भाव प्रगट हो चूके थे। उन को न तो नया देखने का था न ज्ञात करनेका। अर्थात् मुक्त जीव–भ्रम रहित जीव मनुष्यभव में सक्रिय होते हैं और सिद्धदशा में निष्क्रिय होते हैं। इस तरह सिद्धों में निश्चय से निष्क्रियता समजनी। और यह सब का हेतु मनो–निरोध योग है इस लिऐ उसी मार्ग में रमण करना यह श्रेय के वास्ते है।





९ मा अधिकार.

मुक्त जीवों को कर्मबन्ध नहीं होता।

प्र० पंचपरमेष्ठि संज्ञावाले सिद्धात्मा, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को जो विभूषित है ऐसे सिद्धजीव कर्मों को क्यों ग्रहण नहीं करते? अगर उन को सुख है तो शुभ कर्मों के ग्रहणसे कौन रोकता है?

उ० सिद्धात्माओं को कर्मग्रहण का अयोग है क्यों कि कर्मों का ग्रहण सूक्ष्म तैजस और कार्मण शरीर से होता है जिन को वहाँ अभाव होता है।

प्र० सिद्धात्मा कैसे होते है?

उ० सिद्धात्मा हमेशां निष्क्रिय होते है। सिद्धात्माओं को ज्योतिः चिद् और आनंदके भरसे तृप्ति होती है और सुख–दुःख की प्राप्ति में हेतुभूत काल, स्वभावादि प्रयोजकों का अभाव होता है।

प्र० कर्मसिद्धों के सुखके लिए हेतु न हो सकते हैं?

उ० कर्मसिद्धों के सुख के हेतु नहीं हो सकते क्यों कि उन का अस्तित्व भी नहीं है और सिद्धों का सुख अनन्त भी है।

प्र० कर्म जो मर्यादित सुख को देनेवाले हैं वह कैसे अनन्त सुख को दे सकते हैं ?

उ० सिद्धात्माओं को सुख वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त नहीं हुआ अगर उसके क्षय को वह अनन्तसुख प्राप्त हुआ है इस लिए सिद्धात्माओं को कर्म सुख को देनेवाले नहीं हैं।

प्र० जितेन्द्रिय योगियों को किसी भी सांसारिक सुख की अभिलाषा होती है ?

उ० जितेन्द्रियों को ऐहिक सुख की कभी अभिलाषा नहीं होती क्योंकि जैसे पूर्ण पात्र में कुछ भी नहीं रह सकता वैसे सच्चिदानंदरूपी अमृत से परिपूर्ण ऐसे सिद्धात्माओं को तुच्छ सांसारिक सुखों की कभी अभिलाषा नहीं होती है।

प्र० सिद्धात्माओं को नित्य सुख कैसे रहता है ?

उ० जैसे प्राकृतजन को अद्‌भूत नृत्य दर्शन से अति सुख होता है वैसे सिद्धात्माओं को भी विश्वरूप नाटक को देखने से नित्य सुख रहता है।

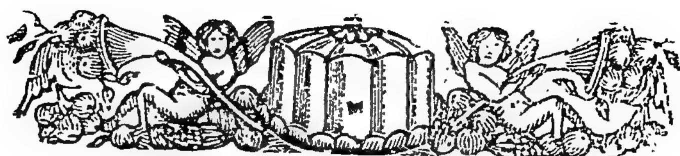
प्र० सिद्धात्माओं को कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय या शरीर का अभाव होता है तो वे कैसे सुखास्वाद करते हैं, दृष्टान्त से बतलाओ।

उ० कोई दर्दी ज्वरपीडित हो और जब कभी वह सो जाता है तब अगर कोई उस को उठाने का प्रयत्न करता है तो समीपस्थ स्नेही कहता है—भाई उस को मत उठाओ। वह सुखमें है। और भी कोई योगी कि जो आत्मज्ञानामृत में

मग्न होता है उस को जब पूछते हैं कि आप कैसे हैं ? वह प्रत्युत्तर देता कि में बहुत सुखी हूं । अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वह योगी किसी विलासवाले पदार्थों का उपयोग नहीं करता मगर कहता है कि " संतुष्ट हूँ ". तो उस को ज्ञानसुख वो ही ज्ञात कर शकता है ।

सारांश—इसी तरह सिद्धो में ईन्द्रियों के विषय और क्रियायें नहीं होती मगर अनन्तसुख होता है, और उनं के सुख को वे ही जानते हैं । ज्ञानी भी कहने को समर्थ नहीं है क्यों कि वे सुख निरुपम हैं ।





१० वाँ अधिकार.

ईश्वर निरुपण—इस जगत का कर्ता कोई नहीं है ।

प्र० परब्रह्मका क्या स्वरूप है ?

उ० परोपकारपरायण, वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और आप्त (यथास्थित वस्तुको जाननेवाले और कहनेवाले) यह परब्रह्म का स्वरूप कहा है ।

परब्रह्म उसी ही को कहते है कि जो निर्विकार, निष्क्रिय, निर्माय, निर्मोह, निर्मत्सर, निराभिमान, निस्पृह, निरपेक्ष, निरंजन, अक्षर, ज्योतिर्मय, रोग और विरोध से हीन, प्रभामय है और जगत जिस की सेवा करता है और जिस के ध्यान से भक्तसंघ निवृत्ति को प्राप्त होता है ऐसे ईश्वर स्वरूपवाला है ।

प्र० क्या परब्रह्म सृष्टि का कारण है ? क्या जगत् युगान्त को ब्रह्म में लीन होता है ?

उ० परब्रह्म को सृष्टि बनाने का कोई प्रयोजन नहीं है, और उस के लिए कोई प्रेरणा करनेवाला भी कोई नहीं है । अगर परब्रह्म सृष्टि रचनेवाला हो तो ऐसी रचना

क्यों कीयी ? देखो ! जगत् जन्म, मरण, व्याधि, कषाय, काम, क्रोध और दुर्गति के भव से व्याकुल है। परस्पर द्रोह और विपत्त से भरा हुआ है। व्याघ्र, हस्ति, सर्प, बिच्छु से परिपूर्ण है। पाराधि, मच्छिमार और व्याधसे त्रस्त है। चोरी, जारी से पीडित है। कस्तुरी, चामर, दांत और चर्म के वास्ते मृग, गौ, हस्ति और चित्ताओं का घातक है। दुर्जाति, दुर्योनि और दुष्ट कीटों से भरा है। विष्टा और दुर्गन्ध से भरे कलेवरों से अंकित है। दुष्कर्मों को निर्माण करनेवाले मैथुन से संचित है। सप्त धातु से निष्पन्न शरीरों से समाश्रित है। नास्तिकों के सहित और मुनीशों से निचित है। वर्णाश्रम के भिन्न भिन्न धर्म, षड्दर्शन के आचार–विचार सम्बन्धि आडंबर से युक्त है। नाना प्रकारकी आकृत्तिवाले देवताओं की उस में पूजा होती है। पुण्य और पाप को निष्पन्न कर्म भोग को देनेवाले है। श्रीमन्त और निर्धन, आर्य और अनार्य भेदों से व्याप्त है। अगर परब्रह्म बनानेवाला है तो ऐसा क्यों बनाया ? सब कुछ विपरीत ही नजर आता है। परब्रह्म के स्वरूप को सर्वथा भिन्न है।

और भी अगर आगे बढो तो उसी बनानेवाले परब्रह्म को वैर रखनेवाले, उस का खंडन करनेवाले, उस को हसनेवाले भी कितनेक जीव होते हैं और कितनेक उस को चाहनेवाले भी हैं। अगर परब्रह्म बनानेवाला हो तो ऐसी सृष्टि क्यों बनाई ?

और भी कार्य में उपादान कारण के गुण होने चाहिए वे भी नहीं नज़र आते।

संसार में अनित्य वस्तु नज़र आती है। अगर सृजन के

समय ब्रह्ममें से उत्पन्न हुई है तो योगी उस का त्याग क्यों करते हैं ? और जिस को योगी छोडते है उस को परब्रह्म क्यों ग्रहण करते हैं ? और ग्रहण करे तो वह विवेक कैसा ?

और भी सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती न उस में लीन होती है। अगर ऐसा हो जाय तो ब्रह्म को 'वाताहन्ति' अर्थात् वमन किये को फिर भक्षण करने का दोष क्यों नहीं आता ?

और भी जगत में अगर कोई ब्राह्मणादि को घात करता है तो महाहिंसा होती है एसा कहते हैं तो संपूर्ण सृष्टि के संहारक ब्रह्म को कैसी हिंसा होगी ? दयावान् निर्दय कैसा ? क्या पुत्र को पैदा कर, कर के घात करनेवाले पिता को हिंसा नहीं होगी ?

अगर कोइ ऐसा कहे कि जगत् तो ब्रह्म की लीला है इस लिए उस के संहार में दोष नहीं होता, तो यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्या शिकार करनेवाले नृपति को जीवहिंसा का पाप नहीं होता ?

इस लिए जो सृजन और संहार परब्रह्मम में बतलाते हैं वे उस की महिमा नहीं बढाते मगर निष्कलंक में कलंक लगाते हैं। और ब्रह्म को निष्क्रिय कह कर सृजन और संहार में सक्रिय बतलाना वो " मे माता वन्ध्या " के तरह विरुद्ध है।

ज्ञानवन्त होते हैं वे ब्रह्मको उपासना करते हैं अगर वे ही ब्रह्मांश ही तो उपासना क्यों करना ? और उन में और ब्रह्म में क्या भेद ? अगर वे सब जीव ब्रह्मांश ही होंगे

तो ब्रह्म स्वयं उन को अपने पास ले जावेगा । अगर ब्रह्मप्राप्ति के लिए निरागता, निःस्पृहता, निर्दोषता, निष्क्रियता, जितेन्द्रियता करने योग्य हो और ब्रह्म की उसी में ही प्रीति हो तो ब्रह्म का निष्क्रियत्व सिद्ध होता है ।

अगर ब्रह्मको निष्क्रिय और सक्रिय कहो तो उस में कर्तृत्व आवेगा और कर्ता के अनेक स्वभाव होने से कदाचित् उस में अनित्यता भी आजावेगी । और राग-द्वेष भी आ जावेंगे, सशरीरी भी होना पडेगा और ब्रह्म नित्य है ऐसी व्याप्ति भी नही होगी । क्यों कि नित्य वह ही है जो एकरूप है । दृष्टान्त आकाश का हमारे सामने ही है ।

सृष्टि करने में और युगान्त में संहार करने में कर्ता को सक्रियता आती है और सृष्टि तथा संहार के अभावमें निष्क्रियता आती है । और जीव सुखी तथा दुःखी भी दिखते है इस से वह कर्ता राग-द्वेषी भी सिद्ध होता है । अगर यह तर्क किया जाय कि जैसा कृत्य वैसा सुखदुःख तो फिर कर्ता का क्या पराक्रम रहा ? इस लिए निश्चित होता है कि स्वकृत पुण्य पाप ही सुख-दुःख को देनेवाले हैं ।

प्र० क्या जीव ब्रह्मांश हैं ?

उ० नहीं, जीव ब्रह्मांश नहीं है अगर वह ब्रह्मांश हो तो ब्रह्मांश समान होने से सभी समान हो जावेंगे । मगर ऐसा कुछ नजर नहीं आता । और भी अगर जीव ब्रह्मांश होगा तो ब्रह्म स्वयं ही उस को विना परिश्रम ही अपने पास ले जावेगा ।

प्र० जीव सुखी–दुःखी अनेक प्रकार के नजर आते हैं तो उन भेदों को करनेवाला कोई अन्य या ब्रह्म होने चाहिए।

उ० अगर जीव ब्रह्म से भिन्न हो और सुख–दुःख का कर्त्ता ब्रह्म हो तो जिस हेतु से ब्रह्म सुख–दुःख करता है उस हेतुका कर्ता भी ब्रह्म ही होना चाहिए।

सारांश—संक्षेप में ब्रह्म को निरंजन, नित्य, अमूर्त और अक्रिय कथन कर के फिरसे उस को कर्ता–संहर्ता और रागद्वेषादिका पात्र कहना यह परस्पर विरुद्ध है। इसी से मुनियोंने सोचा कि जगत् भिन्न है और ब्रह्म भी भिन्न है और इसी लिए संसारस्थित मुनि मुक्ति के लिए परब्रह्म का ध्यान करते हैं।

प्र० ईश्वर की (विष्णुकी) माया जगत् रचना में हेतुभूत है या नहीं ?

उ० नहीं, वैसा हो नहीं सकता। अगर ऐसा कहोगे तो क्या ईश्वर माया के आश्रित है या माया ईश्वर के आश्रित है ? और माया स्वयं जड होने से आश्रय नहीं ले सकती तथा ईश्वर परब्रह्म स्वरूप होने से माया का आश्रय नहि लेता।

प्र० ईश्वर उस के सेवकको सुखी करता है और जो सेवक नहीं है उन को दुःखी करता है यह बात क्या सत्य है ?

उ० ना, यह असत्य है अगर ईश्वर ऐसा करेगा तो वह स्वयं रागी और द्वेषी हो जावेगा। और जो उस की सेवा भी नहीं करता और निंदा भी नहीं करता उस की क्या गति

होगी। लोक में जीव तीन तरह के होते हैं—सेवक, अ-सेवक और मध्यस्थ। जब प्रथम के दो प्रकार के जीवों की गति होती है तब मध्यस्थ जीव की भी कोई गति होनी चाहिए। और अगर मध्यस्थ की कोई नियत गति होती है तो उस गति को करनेवाला कौन है? इस लिए यही कहना योग्य है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा सुख-दुःख पाता है।

प्र० ईश्वर खुद में से ही जीवों को प्रगट कर के (सृजन कर के) संसारीभाव को देता है और महाप्रलय के समय फिर खुद उस का संहार करता है। क्या यह कहना सत्य है?

उ० नहीं, यह बिलकुल असंभवित है। क्यों कि अगर ऐसा माना जायेगा तो सवाल यह पैदा होता है कि—

क्या ईश्वरने जीवों को कोई ईष्ट स्थान में छिपा रक्खे थे जैसे हम स्टोर में किसी चीज को रक्खते हैं वैसे रक्खे थे या जीवों का नवीन सृजन होता है और फिर प्रगट करता है। प्रथम में अगर छिपे हुए प्रगट करता है तो उस को किस का डर था जो छिपाता है?

अगर उस की अचिन्त्य शक्ति कहो तो वह लोभी कहलाएगा अगर नयी रचना करता है तो क्या पुराने जीवों को स्वतंत्र करने में असमर्थ है जिससे उन को बंधन में रक्ख के विडंबना देता है? और स्वचीज को नाश करने-

वाला वह ईश्वर कैसा अविवेकी कहा जायेगा ? बालक भी स्वकृत वस्तु को अपनी ताकत के अन्तिम समय तक रक्षा करता है।

प्र० क्या यह जगत् ईश्वर की लीला है ?

उ० नहीं, ईश्वर जगत् की लीला में नहीं पडता, और वह ईश्वर के साथ शोभा को भी नहीं देता। जिस को तप-जप और ध्यान पसंद आता है वह ईश्वर ऐसे पचडे में क्या गिरेगा ? जिस में जीवों की हत्या होती हो वैसी लीला क्या वह पसंद करेगा ? दूसरों को निषेध करें और खुद प्रवृत्ति करें यह कभी हो सकता नहीं। और भला ! ऐसे काम करनेवाला कभी ईश्वर भी हो सकता है ? और जो ईश्वर ज्योतिर्मय है वह कैसे अपने रम्य अंशो को विमोह लगा के संसार में परिभ्रमण करावेगा ? संसारीभाव को प्राप्त हो कर जो जीवत्व को दुःख के तर्फ धकेलता है वह कैसे ईश्वरांश कहाएगा। अगर यह सब ईश्वर की लीला है तो मानना ही चाहिए कि उस को दुःखमय संसार ही इष्ट है, और जब ऐसा है तो संसारी जीवों को उस की प्राप्ति वास्ते व्यर्थ क्यों प्रयत्न करना ?

तात्पर्य—कहने की मतलब यह है कि जो ईश्वर है वह चिन्मय और सदा एकरूप है, तथा वह ईश्वर प्रत्येक योगीश्वरों को भी उपास्य है। जीव अपने विविध प्रकार के कर्मयोग से सुगति को या दुर्गति को-सुख को या दुःख को पाता है और जब

जीव समभाव को धारण करता है तव ब्रह्मत्व को पाता है। इस लिए ईश्वर को जगतकर्ता कहना छोड के उस की स्तुति–सेवा करना ही योग्य और उचित है। जैसे कोई वीर अपने मालिक के आयुधों से शत्रुओं को पराँजित कर के निज अंग को सुखं पहुँचाने से कर्त्ता होता है वैसे ही ईश्वर का ध्यान करनेवाला ईश्वर के ध्यान से आत्मा को सुख पहुंचाने से कर्त्ता है और आत्मा-के अंधकार के अपहरण से संहर्ता कहलाता है। जैसे शुरवीर स्वामी के आयुधों से लडता है मगर स्वामी को कुछ भी क्रिया नहीं करने की होती वैसे ही भक्त ईश्वर–ध्यान से अपने इष्ट के वास्ते मथता है मगर ईश्वर को कुछ भी करने का नहीं; और इसी से ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध होती है। और शुरवीर स्वा-मी के आयुधों से जय पाता है तब जय का कारण स्वामी को मानता है वैसे ईश्वर के ध्यान से जब जीव मुक्ति पाता है तब उस का कारण ईश्वर को ही समजता है और उसी में सुख आ-दि को मानता है।





११ वाँ अधिकार.

ब्रह्मस्वरूप वर्णन.

प्र० ब्रह्म क्या है ?

उ० ब्रह्म वही है जिस को हम सिद्धपुरुष कहते हैं। जो शुद्ध और निर्मल चित्तवाले योगी हैं उन को ध्यान करने योग्य वह ब्रह्म है। और जिस को—मुमुक्षु—मुक्त होने की इच्छा रखनेवाले इस दुस्तर पारावार में तैरने के वास्ते नौका समान मानते हैं।

प्र० अगर यह सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न नहीं है तो कहाँ से उत्पन्न हुई और कहाँ कैसे प्रलय को पायेगी ?

उ० जवाब संक्षेप में ही है। त्रिकालवेत्ता वीतरागप्रभुने फरमाया है कि काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम (वीर्य) से यह समवाय पंचक से (पाँचों के मिलन से) सृष्टि की उत्पत्ति और लय होता है।

प्र० ब्रह्म में ब्रह्म कैसे लीन होता है और ज्योति में ज्योति कैसे मिलती है वह बतलाओ।

उ० तत्वविद्लोग ज्ञान को ब्रह्म अथवा ज्योति कहते हैं। एक सिद्ध का ब्रह्म (ज्ञान अथवा ज्योति) अनन्त दिशाओं में अनन्त क्षेत्रों को आश्रय कर के रहता है और उसी क्षेत्रो में दूसरे का–तीसरे का यावत् अनन्त सिद्धों का ब्रह्म रहा हुआ है। और इसी से ही कहा जाता है कि ब्रह्म में ब्रह्म लीन होता है, ज्योति में ज्योति लीन होती है।

प्र० अगर अमुक निश्चित क्षेत्रो में ही ब्रह्म के साथ अन्य ब्रह्मों की भी लीनता हो जावेगी तो क्षेत्र छोटा होगा और परस्पर मीलित ब्रह्मों को भी क्षेत्रसंकीर्णता होगी।

उ० ऐसा नहीं हो सकता। एक विद्वान अपने हृदय में अनेक शास्त्रों को धारण करता है मगर कभी हृदय की संकीर्णता नहीं होती। और अक्षरों को परपीडा भी नहीं पहुँचती। इस तरह ब्रह्म परंपरा आश्रित ब्रह्म से (चित्) सर्वत्र व्याप्त क्षेत्र कभी संकीर्ण नहीं होता। और ब्रह्म को भी संकीर्णता अथवा परस्पर का सांकर्य नहीं होता। और इसी तरह सिद्धों से परिपूरित सिद्धक्षेत्र कभी संकीर्ण नहीं होता। और सिद्ध परंपराश्रित सिद्ध सांकर्य–बाधा से रहित अनन्त और अगाध ज्ञानसुख में मस्त रहते हैं।



नित्यता देखते रहते हैं। सिद्ध आनंद से भरे होते है—साधु अन्तःकरण शुद्ध रक्खते हैं। संतोष और समभाव से रहते हैं। इस तरह सिद्धों के जो गुण होते हैं और जिन का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है उन गुणों को मुमुक्षु समज के यथाशक्ति पालने को कटिबद्ध होता है और क्रम से से वह सिद्ध होता हैं। और भी गृहस्थ जो दुष्कर्क की शान्ति के लिए अपनी शक्ति के अनुसार देश से भी (अंशतः, सर्वथा नहीं) अनुसरता हैं यह भी अनुक्रम से सुखी होता है।

इस से निश्चित होता है कि मुमुक्षु अल्प गुण में से सिद्ध के परिणाम से महागुण को प्राप्त होता है।

प्र० गृहस्थ धर्म के लिए क्या आवश्यक है ?

उ० गृहस्थों के लिए—श्रावकों के वास्ते निरंतर साकार देवपूजा, साधुओं की सेवा और दानादि धर्म आवश्यक हैं। गृहस्थ प्रायः हमेशां सावद्य (पापमय) व्यापार में रक्त, सदा-काल ऐहिक अर्थप्राप्ति में प्रसक्त और कुटुम्ब—पोषण के वास्ते हमेशां उच्च—नीच वार्ता में (आजीविका) आदरयुक्त होते हैं इसी से स्वचित्त की शुद्धि के लिए इन को अवश्य तत्त्वत्रयी का (देव—गुरु—धर्म) सेवन करना आवश्यक है।

प्र० कौन आदमी निन्दा को प्राप्त नहीं होता ?

उ० जो निश्चय पर दृष्टि रख के कार्य को—सर्व व्यवहार करता

है वह कभी निंदापात्र नहीं होता, और वही भवसमुद्र के पार को पाता है। 'गुजराती' में कहा भी है—

" निश्चय दृष्टि चित्त धरीजी पाले जे व्यवहार,
पुण्यवन्त ते पामशेजी, भवसमुद्रनो पार. "

प्र० निश्चय दृष्टिवाले कुलीन मनुष्य को कहाँ तक स्व-व्यवहार की रक्षा करनी ?

उ० जहाँ तक सिद्ध परमात्मा का निरावलंबन ध्यान करने के लिए मन समर्थ न हो वहां तक, और जब तक सुसाधु और कुसाधु का निश्चय करने में समर्थ, ज्ञानोदय न हो वहां तक, निश्चय दृष्टिवाहक कुलीन पुरुष को स्व-व्यवहार की रक्षा करनी चाहिए।

प्र० निर्वाणधाम की मंगलमयी द्वारभूमि को प्राप्त करने के लिए क्या करना आवश्यक है ?

उ० द्रव्य और भाव, ये दोनों प्रकार के धर्म का पालन करना वह मंगलमयी भूमि को प्राप्त करने के लिए उत्तम वाहन के समान है।

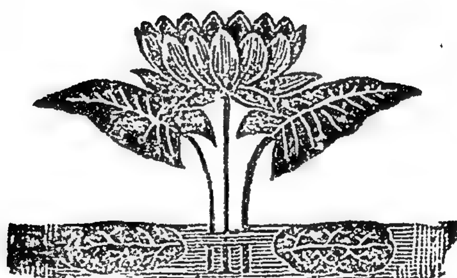
प्र० कौनसा परम धर्म है ? और वह क्या प्राप्त करवाता है ?

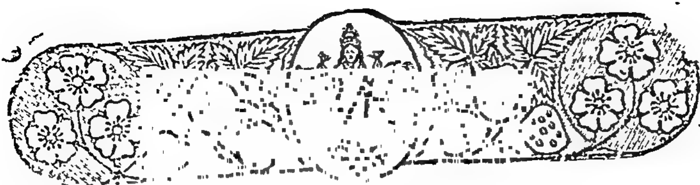
उ० आत्मज्ञान यही परम धर्म है और वही महात्माओं को शिवधाम में (मोक्षमंदिर में) पहुंचानेवाला है। कहने

का तात्पर्य यह है कि उस की साधना से मोक्ष निश्चितरूप से होता है ।

प्र० आत्मज्ञान से क्या प्राप्त होता है ?

उ० आत्मज्ञान से अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख) प्राप्त होता है, और इन से ज्ञानादि शुद्धि अनन्त होती है और उसी की साधना से निवृत्ति—मोक्ष होता है । इत्यलम् ।





१३ वाँ अधिकार.

परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दोनों प्रमाण स्वीकारने के योग्य हैं।

प्र० कितनेक कहते हैं कि-पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, स्वर्ग नहीं है, नरक नहीं है, मोक्ष नहीं है, पुनर्जन्म भी नहीं है और मन से कुछ भी नहीं ग्रहण कर सकते और जिस में पांचो इन्द्रियों के विषय होते हैं ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड के अन्य किसी प्रमाणों को नहीं मानने चाहिए। क्या यह युक्तिसंगत है ?

उ० जो वस्तु दृश्य हो वही सत् और अन्य असत् ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। जिस में पांचों इन्द्रियों का विषय हो ऐसी वस्तु कौन है उस को प्रथम विचारना चाहिए। अगर रामादि में (स्त्री आदि में) पांचों इन्द्रियों का विषय है तो सोचना चाहिए कि रात्रि में शब्द-रूप से समान किन्तु पूर्वकथित जो रामादि वस्तु नहीं है उस में क्या रामादि वस्तु का भ्रम नहीं होता ? अगर यह कहा जाय कि रात्रि में सर्व

इन्द्रियों के ज्ञान की हानि होने से प्रायः मोह हो जाता है और इसी से अतद् वस्तु में तद् वस्तु का—रामादि नहीं ऐसी वस्तु में रामादि का भ्रम होता है। अस्तु। तब यह तो सिद्ध हो चूका कि इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान हमेशां सत्य नहीं होता।

निरोगी मनुष्य शंख को सफेद देख कर लेता है मगर जब कभी उस की आंख में कोई रोग हो जाता है तब वह उस को विविध रंग से भरा देखता है। और मनुष्य जब स्वस्थ होता है तब अपने स्नेहिजनों को अच्छी तरह पहिचानता है मगर वह जब नशे में—मदिरा आदि में—मस्त होता है तब क्या पहिचान सकता है? अगर इन्द्रियों से ज्ञात हुआ पदार्थ सत् होना चाहिए तो उसी आदमी में उन ही इन्द्रियों के रहने पर भी इतना विपर्यास पूर्वज्ञान और उत्तरज्ञान में क्यों होता है? और उस का कौनसा ज्ञान सच्चा मानना? रोगादि के पूर्व का या पीछे का अगर पूर्व का सच्चा मानो तो इन्द्रियाँ पूर्व की होने पर भी ज्ञान में विभिन्नता क्यों पैदा हुई? इस से निश्चित होता है कि प्रथम मन अविकारदशा में था और विकारदशा में अब है? और इसी से ही यह भेद हुआ। अब भेद किस में हुआ यह सोचना चाहिए। यह भेद अगर मानसिक हो तो मन दृश्य नहीं है और वर्ण से भी उस का निवेदन नहीं कर सकते। अगर केवल इन्द्रियों का ही सच्चा माना जाय तो मन की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और विकार

तो साक्षात् हुआ है तो फिर यह कैसे हुआ ? इस से सिद्ध होता है कि इन्द्रिय ज्ञान सब सत्य नहीं होता।

और भी आनन्द शोकादि शब्दों को नास्तिक और आस्तिक समान रीत से यथार्थ मानते हैं। ये शब्द जिह्वादिवत् शब्दवाले नहीं, सुवर्णादि के तरह रूपवाले नहीं, पुष्पादि के समान गन्धवाले नहीं शर्करादि की तरह रसवाले नहीं और हवा के तरह स्पर्शवाले नहीं किन्तु ताल्वोष्ठ जिह्वादि (तालु–ओष्ठ–जिह्वा) स्थान से कहे जाते हैं, और श्रोत्रेन्द्रियद्वारा उस के वर्णों को ग्रहण कर सकते हैं, और उस से होनेवाली चेष्टाओं से विशेष बोध होता है, और स्वानुभव से प्राप्त फल से अनुमान हो सकता है, और वे शब्द स्व–विरोधियों का नाश करते हैं और विरोधियों के जन्म के साथ अपने नाम का शीघ्र नाश करते हैं। खुद के उच्चार के साथ उत्पन्न होनेवाले गुणविशिष्ठ उन शब्दों को प्रत्येक समान रीत से काम में लाते हैं। अगर ऐसे सिद्ध शब्दों का साक्षात्कार (अनुभव) स्व–इन्द्रियों से नहीं होता तो अप्रत्यक्ष पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि में किस की इन्द्रियाँ प्रवृत्त हो सकती हैं।





१४ वाँ अधिकार.

परोक्ष प्रमाण की सिद्धि.

प्र० केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाणरूप से मान्य करना" यह क्या सर्व पदार्थों की सिद्धि के लिए योग्य है ?

उ० "केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाणरूप से स्वीकार करना" यह कहना सर्व पदार्थों की सिद्धि के लिए ठीक नहीं है।

प्र० तब वास्तविक क्या है ?

उ० शास्त्र के प्रवीणपुरुष कहते है कि—जो एक शब्द से (पद से) कहे जाते हैं वे सत्पद होते हैं, और जो सत्पद से वाच्य होते हैं उन का अस्तित्व होना भी अनिवार्य है। जैसे, आनंद शोकादि को पूर्वक्त शब्द विशेष में काल, स्वभाव, नियति, कर्म, उद्यम, प्राण जीव, आकाश, संसारविचार इत्यादि शब्दों में से कीसी भी शब्द को कैसा विचक्षण चेष्टा से प्रति-

पादन नहीं कर सकता; किन्तु प्रत्येक शब्द को सत्पद को कहना ही योग्य है। उन के वर्ण केवल कर्णेन्द्रिय से ही ग्रहण हो सकते हैं और स्व-स्व भाव से उत्पन्न होनेवाले उन उन प्रकार के फलों से अनुमान भी हो सकता है। प्रत्यक्ष करना यह कार्यमात्र केवलज्ञानी ही कर सकता है।

वे शब्द जो दो या उन से ज्यादा शब्दों के संयोग से होते हैं उन का अस्तित्व होता भी है और नहीं भी होता। जैसे "वंध्यापुत्र" यह शब्द दो पदों से बना है और उस का अस्तित्व संसार में नहीं है किन्तु उन्हीं पदों को भिन्न करने पर वंध्या का भी अस्तित्व मिलता है और पुत्र की भी हस्ति नजर आती है इस लिए यह साबित होता है कि एक पदवाले अवश्य होते हैं जब ज्यादा पदवालों का अस्तित्व संशयास्पद होता है। जैसे मृग-जल, आकाश-पुष्प, खर-शृंग इत्यादि अनेक संयुक्त शब्द नहीं होते।

कितनेक शब्द संयोगज होते हैं जिस का विरह प्रायः नहीं होता-गोशृंग, गोपति, भूधर इत्यादि शब्द भिन्नभिन्न और संयुक्त भी होते हैं।

और भी इन्द्रियज्ञान वह सर्व सत्यज्ञान नहीं है। इस के लिए विशेष में यह लिखने का है कि-कर्ण, नेत्रादि से ग्रहण होने के योग्य ऐसी वस्तु में भी सच्चे कर्पूरादि नहीं किन्तु उस के सदृश लवणशर्करादि में भी नेत्र या कर्ण भेद नहीं कह

सकते । नेत्र, कर्ण, जिह्वा तथा नासिका से शर्करा, कर्पूरादि सुगन्धी वस्तुओं का ज्ञान होता है किन्तु कभी कभी जिह्वा से होनेवाले ज्ञान को ही प्रामाण्य आता है।

और भी सुवर्णादि में नेत्र से, कर्ण से ज्ञान होता है मगर जब तक कषादि से निश्चय नही किया जाता वहाँ तक नेत्र-कर्णादि के ज्ञानों को प्रामाण्य नहीं आता।

रत्नपरीक्षकवर्ग इन्द्रिय समान होने पर भी रत्न-परीक्षा नामक ग्रंथ के आधार से माणिक आदि रत्न-राशि की किंमत भिन्नभिन्न कहते हैं। उस में स्व प्रतिभा ही मुख्य कारण है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियज्ञान संपूर्ण सत्य नहीं होता।

और भी औषधि, मंत्र, गूटिका अथवा अदर्शीकरण (नेत्रांजन) से गुप्त रहनेवाले का शरीर लोगों की दृष्टि में नहीं आता और इस से इन्द्रियां " वह नहीं है " ऐसा ज्ञान क्या नहीं करता ? इस लिए इन सब से परोक्ष की सिद्धि होती है और परोक्ष की सिद्धि में ही स्वर्ग–नरक की सिद्धि है।

प्र० और भी जो वस्तु चेष्टा से भी नहीं नजर आती उस को कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?

उ० सर्वज्ञ प्रभु केवलज्ञान से जितनी सत् वस्तु होती है उन को जानते हैं और इसी लिए अन्य के ज्ञानार्थ जिन जिन बातों वे कह गये हैं उस में प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए।

और भी संसार में अन्य मनुष्यों को जिन चीजों का ज्ञान भी नहीं होता, उन चीजों को उस के वास्तविक स्व-रूप को समजनेवाले अच्छी तरह से ज्ञात करते हैं।

नैमित्तिक लोग (ज्योतिर्विद) ग्रहण, ग्रहोदय, गर्भ तथा मेघ का आगमन काल जान सकते हैं।

वैद्य शरीर में स्थित प्रत्येक व्याधियों का निदान कह सकता है।

जासूस वर्ग पदचिह्नों से भी वास्तविक चोर को पकड सकते है। शाकुनिक शकुन को कह सकता है। सामान्य जन ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता। इसी से हि ज्ञात हो सकता है कि इन्द्रियों से और क्या बोध हो सकता है ?

सारांश में यह है कि प्रत्येक जन परोक्ष पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकता। संपूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानी को ही होता है। इन्द्रियाँ होने पर भी मनुष्य आचार, शिक्षा, विद्या, मंत्र आदि स्वयं नहीं ज्ञात कर सकता वहाँ पर अन्य के उपदेश की आवश्यकता होती है।

इस लिए स्थिर चित्त होकर, संपूर्ण विकल्पों को छोड के समजो कि इन्द्रियाँ स्वग्रहण योग्य पदार्थों का ही ग्रहण करती है। जो ज्ञान परोक्ष होता है यह परोपदेश से शीघ्र समजने में आता है। जैसे स्वशरीरगत रोग को किसी चिकित्सक के कहने पर ही पहिचान सकते हैं; स्वयं नहीं जान सकते।

शरीर की अवयवभूत वस्तु देख सकते हैं मगर अमूर्त को देखना असम्भव होता है। आकृत्ति को धारण करनेवाले (साकार) जीवों के शरीर पर स्थित कोई भी चीज देख सकते हैं किन्तु निराकार जीव के गुणों को नहीं देख सकते, क्यों कि वे भी निराकार होते हैं। इसी से सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ स्वग्रहणयोग्य पदार्थ को ही ग्रहण कर सकती है। आप्त जनों का कथन है कि सामान्य लोग की इन्द्रियाँ संपूर्ण ग्रहण नहीं कर सकती यह सर्वथा सत्य हैं।





१५ वाँ अधिकार.

स्वर्गादि प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु विद्यमान अवश्य हैं।

प्र० जो ग्राह्य होता है उस को इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती है। और जो नहीं होता उस कों नहीं ग्रहण कर सकती, यह बात दृष्टान्त से स्पष्ट कीजिए।

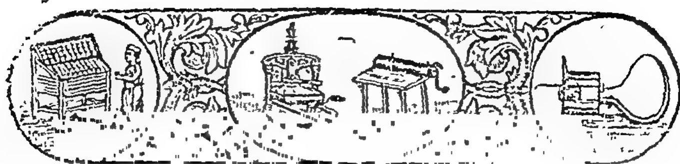
उ० मनुष्य शरीर के पृष्ठ भाग में स्थित तिल, भृंग या स्वस्तिकादि चिह्नों को स्वयं अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकता। किन्तु अन्य मनुष्य के कहने पर उन चिह्नों का होना सत्य मानता है। अनेकों प्रयत्न करने पर स्व इन्द्रियाँ से उन चिन्हों को नहीं देख सकते इसी तरह स्वर्ग–नरकादि के होने पर भी–इन्द्रियों से अग्राह्य होने से हम नहीं देख सकते।

प्र० शरीर के पृष्ठ भाग के चिह्नों का निश्चय तत्प्रकार के परिणाम से (फल) होता है वैसे ही क्या किसी भी चेष्टा विशेष से स्वर्ग–नरकादि का बोध हो सकता है ?

उ० स्वर्ग—नरकादि का किसी भी चेष्टा विशेष से बोध नहीं होता, किन्तु इस कारण से उस का नास्तित्व नहीं हो सकता । हम देख सकते हैं कि—देव—देवी की उपासना करनेवाले भक्त लोक उन की भक्ति करने से अपने वांच्छित फल को प्राप्त करते हैं, किन्तु फल को देनेवाले देवदेवीयों को प्रत्यक्ष कभी नहीं देखते तो क्या उन को न देखने से वे कभी उन की सत्ता का अस्वीकार करते हैं ? इसी तरह प्राप्ति के योग्य स्वर्ग—नरकादि की सत्ता समज लेनी चाहिए ।

और भी " लंका है " ऐसा हम और आप हमेशां स्वीकार करते हैं और उस के अस्तित्व को प्रमाणित मानते हैं, मगर कोई सवाल करे कि " लंका कहाँ है, हमें बतलाओ " तो सज्जनो ! जब तक वह संशय करनेवाला मनुष्य लंका को नहीं जावेगा, वहाँ तक कैसे उस को प्रत्यक्ष हो सकता है ? तो एक चीज जो यहाँ मौजूद है वह भी बिना वहाँ गये नहीं देख सकते तो हम छद्मस्थ बिना केवलज्ञान के स्वर्ग—नरकादि को कैसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं ?





१६ वाँ अधिकार.

निगोद स्वरुप.

प्र० निगोद के जीवों का संक्षेप से स्वरुप कहिए।

उ० निगोद के जीव अनन्तकाल तक निगोद में ही रहते हैं। नारक–जीवों के दुःख से अनन्तगुना विशेष दुःख वहाँ होता है। और स्वल्प समय में अनेकवार जन्म मृत्यु करते हैं। उन को मन भी नहीं होता, जो जीव व्यवहार राशी में आते हैं वे क्रम से विशुद्ध होते हैं। व्यवहार राशी में से जो जीव वापिस जाता है वह पुनः निगोद के सदृश होता है।

---

१ एकेन्द्रिय को, द्वीन्द्रिय को, त्रीरिन्द्रिय को, चतुरिन्द्रिय को मन नहीं होता, पंचेन्द्रिय में जो संज्ञी होता है उस को मन होता है, असंज्ञी को मन नहीं होता.

—जैन सिद्धान्त.

प्र० यह कैसे होता है वह स्पष्टता से समजाइए ?

उ० निगोद के जीव जातिस्वभाव से और महा दुःखदायक उत्तरकाल की तादृश प्रेरणा से सदैव दुःख को पाते हैं। जिस तरह लवण समुद्र का जल सदैव लवण ही होता है, अनन्तकाल व्यतीत होने पर वह कभी मिष्ट नहीं होता, और वर्णांतर को भी नहीं प्राप्त होता इस तरह अनन्तान्त काल व्यतित होता रहता है, तथापि जब लवणसमुद्र का जल मेघ का मुख प्राप्त होने पर (आतप से बाष्प होकर मेघ बनने के बाद) गंगादि महानदी में आने से पेय हो जाता है, इसी तरह निगोद-में से निकल कर व्यवहारराशी में आने पर जीव सुखी होते हैं। जैसे गंगादि महानदी का जल फिर लवण स-मुद्र में जाने पर समुद्र—जल के रूप और रसयुक्त—खार होता है।

और भी कुमान्त्रिक के हृदय में कुमन्त्र के वर्ण होते हैं वे उच्चाटन कहलाते हैं। कुमान्त्रिक के हृदय जैसा निगोदस्थान होता है। सन्मत्र के वर्णों के समान व्यवहारराशी के जीव होते हैं। जिस तरह कुमन्त्र के वर्णों में से जो वर्ण सन्मन्त्र में आते हैं वे शुभ कहलाते हैं। उसी तरह निगोद के जीवो में से जो व्यवहारराशी में आते हैं वे विशिष्ट होते हैं। और जिस तरह फिर सुमन्त्र के वर्ण सुमन्त्र के काम में लाने से वे उच्चाटन दोष

से दूषित होते हैं। उसी तरह व्यवहार राशी में से निगोद में आया हुआ जीव पुनः निगोद के जैसा होता है।

प्र० निगोद के जीव समस्त लोक में व्याप्त होकर रहे हैं वे घनीभूत होने पर क्यों देखने में नहीं आते?

उ० निगोद के जीव अति सूक्ष्मनामकर्म के उदय से एक शरीर में आश्रय कर के अनन्तान्त रहे हुए हैं। किन्तु वे चर्मचक्षु से नहीं देखे जा सकते। जिस तरह गंधा (वज) कलेवर और हिंग आदि की अनेक प्रकार की गंध परस्पर मिलकर रहने से अन्य वस्तु को या आकाश को संकीर्णता नहीं होती। निगोद के जीव को परस्पर मिलने से संकीर्णता होती है। किन्तु अन्य वस्तु को या आकाश को संकीर्णता नहीं होती। जैसे गंधादि वस्तु का अस्तित्व नासिका से ज्ञात होता है, किन्तु नेत्र से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। उसी तरह निगोद के जीवों का अस्तित्व श्री जिनवचन से श्रद्धा करने पर ज्ञात हो सकता है किन्तु नेत्रों से या इन्द्रियों से ज्ञात नहीं कर सकते, केवल ज्ञानी ही देख सकता है। हवा में उडनेवाली रज हम नहीं देख सकते किन्तु किसी छिद्र प्रविष्ट सूर्य किरण में उस को देख सकते हैं वैसे दिव्यदृष्टि ही निगोद के जीवों को देख सकता है।

प्र० निगोद के जीव आहार करते हैं किन्तु वे किस गुण से गुरुत्व को प्राप्त नहीं होते?

उ० जिस तरह पारद अनेक धातुओं को हजम कर जाने पर भी गुरुत्व को प्राप्त नहीं होता, चंपा से पुष्प से सुवासित अथवा किसी सुगन्धी धूप से धूपित वस्त्र वजनदार नहीं होता, एक तोला सिद्ध किया हुआ पारद सौ तोला सुवर्ण हजम कर जाता है किन्तु वजन में नहीं बढता और मशक में जैसे हवा भरी जाती है मगर वजनदार नहीं होती वैसे ही निगोद के जीव आहार करते हैं किन्तु गुरुत्व को प्राप्त नहीं होते ।

प्र० निगोद के जीव किन कर्मों से अनन्त काल पर्यन्त दुःखी होते हैं ?

उ० निगोद के जीव स्थूल आस्रव को सेवन नहीं कर सकते वे एक को छिन्न कर के एक शरीर में अनन्त रहे हुए हैं । पृथक् पृथक् गृह से रहित होते हैं । पारस्परिक द्वेष के कारणभूत तैजस कार्मण शरीर में संस्थित होते हैं । अत्यंत संकीर्ण निवास मिलने से परस्पर को छिन्न कर के निकाचित कर्मों को उपार्जित करते हैं. और एक जीव अनेक जीवों के साथ वैर करता है, और भवी एक जीव को एक जीव प्रति का वैर अभेद्य होता है तो अनेक जीवों का वैर क्यों अतीव अभेद्य और अनन्त

---

१ Air Pump से बिलकुल हवा रहित Vacuum नहीं मगर साधारण रीति से खाली कीइ हुई और फिर भरी हुई मशक.

समय तक का न हो। और नित्य प्रति वर्धमान वह वैर उस से भी अनन्त काल तक क्यों न चले। सारांश में निगोद के जीवों का वैर दुष्कर्म और उस को भोगने का काल अनन्त है। जिस तरह अति संकीर्ण पिंजरस्थ पक्षीगण और जाल आदि में फसें हुए मत्स्य पारस्परिक पीडा–दुःख से द्वेषयुक्त होने पर अति दुःख के भाजन होते हैं।

और भी शास्त्रनिपुण कहते हैं कि–चौरादि को बद्ध होता हुआ देखने से–कौतुक मात्र होने पर भी–विना द्वेष वे द्दष्टा सामुदायिक कर्म को उपार्जित करते हैं जो कि अनेक प्रकार से भोग में आता है। इस प्रकार के कर्मों का विपाक जब अति दुःखदायी होता है तब निगोद के जीवों का परिपाक अनन्तकाल व्यतित होने पर भी संपूर्ण न हो तो क्या आश्चर्य !

प्र० निगोद के जीवों को मन नहीं है तथापि वे तंदुल मत्स्य की तरह जिस के परिपाक को अनन्तकाल लगता है वैसे कर्म क्यों उपार्जन करता है ?

उ० निगोद के जीवों को मन नहीं है तथापि अन्योन्य विबाधा से उन को दुष्कर्म तो अवश्य उत्पन्न होते हैं। विष भक्षण करने से फिर वह ज्ञानावस्था में अथवा अज्ञानावस्था में भक्षण किया हो मगर उस का परिणाम अवश्य होता है।

अन्तर यही होता है कि ज्ञानावस्था में कुछ प्रतिक्रिया हो सकती है किन्तु दूसरे में तो नाश ही होता है। इसी तरह मन से रहित उपार्जित कर्म अनन्त काल पर्यन्त भोगने से भी समाप्त नहीं होता। निगोद के जीवों को मन नहीं है किन्तु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, कामयोग—जो कर्मयोग के बीज होते हैं वे होते हैं।



१७ वाँ अधिकार.

निगोद स्वरुप.

प्र० संपूर्ण विश्व निगोद के जीवों से परिपूर्ण है। उस में कर्म, अन्य पुद्गल राशियाँ और धर्मास्तिकायादि किस तरह रहते हैं ?

उ० जैसे गांधी की दूकान में कर्पूर की गन्ध फैली हुई रहती है उस में कस्तुरी अम्बर आदि की गन्ध, पुष्पादि की सुवास, सूर्य का आतप, धूप का धूम, वायु, शब्द, त्रसरेणु आदि मिले हुए रहते हैं।

और भी जैसे विचक्षण पुरुष के हृदय में शास्त्र, पुराण, विद्या आदि होते हैं तथापि वेद, स्मृति, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, ध्यान, तंत्र, मंत्र, कला आदि रहते हैं।

और भी जैसे अरण्य में रेणु, त्रसरेणु, धूप, अग्नि का आतप, पुष्पों का गन्ध, पशुपक्षियों के शब्द, वाद्य के नाद, पर्णों की अवाज आदि का समावेश हो जाता है और अवकाश भी रहता है वैसे ही संपूर्ण लोक निगोद से परिपूर्ण होने पर भी संपूर्ण द्रव्यों का उस में समावेश हो जाता है इतना ही नहीं किन्तु द्रव्यों से भरा होने पर भी तादृश अवकाश रहता ही है।



१८ वाँ अधिकार.

प्रतिमा–पूजन से फल प्राप्त होता है।

प्र० भगवान–परमात्मा की मूर्ति को पूजन से पुण्य होता है यह कथन क्या सत्य है ? अजीव से फलसिद्ध कैसे हो सकता है ?

उ० अजीव की सेवा से क्या लाभ हो सकता है, ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिए। जैसा आकार दृष्टि में आता है प्रायः वैसे ही आकार के धर्म विषयक मन में चिंतवन पैदा होता है।

संपूर्ण–शुभ अंगो से सुशोभित रमणी की प्रतिकृति देखने पर वह तादृश मोहोत्पत्ति की कारणभूत होती है। कामासन की स्थापना से कामीजन कामक्रीडा विषयक विकारों का अनुभव करते हैं। योगासन के अवलोकन से योगियों की योगाभ्यास में मति होती है।

भूगोल से तद्गत् बुद्धि होती है, लोकनाति से लोकरचना समज में आती है। कूर्मचक्र, अहिचक्र सूर्य कालानलचक्र, चंद्र-कालानलचक्र और कोटचक्र आदि आकृतियाँ से यहाँ रहते हुए भी तत्सम्बन्धि ज्ञान होता है। शास्त्र विषयक वर्णों के न्यास से (स्थापना से) उस वर्ण के द्रष्टा को शास्त्र का बोध होता है। नंदीश्वरद्वीप के चित्र से और लंका के पट से तद्-गत वस्तु का ज्ञान होता है। ऐसे ही स्व इश की प्रतिमा उन के गुणों की स्मृति के लिए होती है। जो चीज साक्षात् दृश्य नहीं होती उस की स्थापना की जाती है यह लोकप्रसिद्ध है। दृष्टान्त यह है कि—सति स्त्री जब पति परदेश को गया होता है तब प्रतिदिन उस की प्रतिकृति के दर्शन करती है।

रामायण में भी आता है कि—श्री रामचन्द्र बन को गये तब उन की पादुका को भरतजी राम की तरह पूजते थे। सीताजी भी राम की मुद्रिका का मुकुट रत्न मिलने से रामदर्शन के समान प्रसन्न हुए थे। इन सब दृष्टान्तों में कहाँ भी शरीर का आकार न था। तथापि उन अजीव पदार्थों से तथा प्रकार का सुख होता है तो परमात्मा की प्रतिमा भी अपूर्व सुख की देनेवाली क्यों न हो?

पाण्डव चरित्र में लोकप्रसिद्ध कथा है कि द्रोणाचार्य की प्रतिमा के पूजन से लब्ध नामक भिल्ल बालकने अर्जुन के समान धनुर्विद्या प्राप्त कीयी थी। चंचादिक (खेत में पक्षी आदि को डराने के लिए पुरुपाकृत्ति रक्खी जाती है वह) अजीव वस्तु भी क्षेत्रादि की रक्षा करने में समर्थ होती है।

और भी लोक में माना जाता है कि—अशोकवृक्ष की छाया शोक हरण करती है, बेहडे की छाया कलहकर होती है, बकरी के खुरसे उडनेवाली धूली पुण्य नाश को होती है। चाण्डालादिकी छाया भी पुण्य का ह्रास करती है। सगर्भा स्त्री की छाया उल्लंघन करनेवाले भोगी पुरुष का पौरुषत्व नष्ट होता है और महेश्वरी की छाया को उल्लंघन करनेवाले पर महेश्वर नाराज होते हैं। इस तरह अनेक अजीव पदार्थ भी दुःख सुख के निमित्त होते हैं तब परमात्मा की मूर्ति सुख के लिए क्यों न हो ?

प्र० परमेश्वर के दर्शन से भक्तों के पापों का नाश होता है यह तो सत्य है, परन्तु पूजन से क्या लाभ होता है यह कहिए।

उ० दर्शन से जैसा लाभ हातो है वैसा ही लाभ पूजन से होता है। जिस को जैसी जैसी अवस्था गुण विशिष्ट प्रतिमा चित्त में होती है उन को वे गुण उस प्रतिमा के पूजन से अवश्य संपादन होते हैं। दृष्टान्त के तोर पर लोक में माना जाता है कि ग्रहों की प्रतिमायों के पूजन से तद् विषयक गुण प्राप्त होते हैं। सतीओं की, क्षेत्राधिप की पूर्वजों की, ब्रह्मा की, कृष्ण की, शिव की और शक्ति की स्थापना मानने से हित और न मानने से अहित होता है। स्तूप (महात्माओं के शरीर को अग्नि संस्कार

कर के वहाँ मन्दिर आदि चिन्ह बनवाना वह) भी वैसे ही फल को देनेवाले हैं ।

और भी कार्मण तथा आकर्षण (वशीकरणादि) के ज्ञाता मदनादि निर्जीव पुतले पर जिन जीवों के नाम से विधि करते हैं वे उस विधि से मूर्छित हो जाते हैं । इसी तरह स्व इश की प्रतिमा को प्रभु के नामग्रहणपूर्वक पूजा करनेवाला कुशल पुरुष ज्ञानमय प्रभु को प्राप्त करता है । जैसे कोई मालिक अपने चित्र को बहुमान करनेवाले सेवकों से खुश रहता है उसी तरह परमात्मा भी उन की प्रतिमा के पूजन से प्रसन्न होते हैं एसा हेतु के लिए भी मानो (अन्यथा परमेश्वर तो सदाकाल प्रसन्न ही रहते हैं)।

प्र० वादी प्रतिवादी को प्रश्न करता है कि—पूजन के लाभ विषयक दृष्टान्त आपने दिये मगर दृष्टान्त में और दार्ष्टान्तिक में महान् अन्तर है क्यों कि उपर्युक्त देवादि रागी और पूजा की चाहना करनेवाले हैं किन्तु प्रभु—परमात्मा वैसे नहीं है उन का क्या ?

उ० सवाल का जवाब यही है कि अनीह (स्पृहा रहित) की सेवा अत्युत्तम फल को देनेवाली है और उन की सेवा से ही परमार्थ सिद्धि होती है जैसे स्पृहा से रहित सिद्ध-पुरुष की सेवा इष्ट की प्राप्ति के लिए होती है ।

प्र० सिद्ध पुरुष तो साक्षात् वर देते हैं किन्तु परमात्मा की प्रतिष्ठित प्रतिमा अजीव होती है तो वह क्या फल दे सकती है ?

उ० परिपूजनीय द्रव्य में (सेव्य के विषय में) ऐसा विचार नहीं किया जाता। जो पूज्य होता है वह पूजा के पात्र होता है। दक्षिणावर्त (शंखादि), कामकुंभ चिंतामणी और चित्रावल्ली आदि को इन्द्रियाँ नहीं होती किन्तु क्या फल को नहीं देती ? तो अजीव होने से स्पृहा रहित होते हुए भी स्वभाव से पूजक की इच्छा को संपूर्ण करती है वैसे ही परमात्मा की पूजित मूर्ति भी पुण्य प्राप्ति के लिए अवश्य होती है।

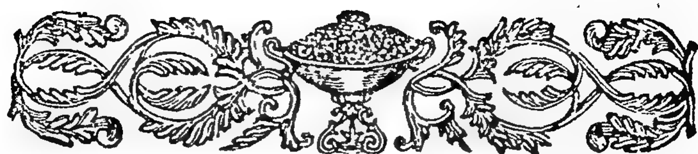
प्र० दक्षिणावर्त आदि पदार्थ अजीव होने पर भी विशिष्ट जाति के दुर्लभ होते हैं इसी से उन का आराधन इष्टप्राप्ति के लिए हो सकता है किन्तु प्रतिमा के विषय में वैसा नहीं है। वे तो सुलभ पाषाण आदि की बनाई जाती है तो फिर कैसे फल को दे सकेगी ?

उ० जिस चीज में स्वभाव से ही गुणों का प्रकाश होता है, उसी से भी पंच मान्य या स्थापित चीज विशेष गुणाढ्य (गुणवाली) गिनी जाती है जैसे किसी एक राजपुत्र को जिस में वीर्यादि गुणों का आविर्भाव हो उस को त्याग कर के (छोड करके) किसी दुर्बल वंश में समुत्पन्न पुरुष को उस के पुण्य के परिबल से कोइ प्रामाणिक पंच राजा स्थापन करता है तब वह दुर्लभ भी वह सबल राजवंशीय पर भी शासन चलाता है। और कदाचित् वह राजवंशी उस का अपमान करता है तो नंदराज की तरह शिक्षा को पात्र होता है।

विचार योग्य वार्ता यह है कि वह सर्वगुणसंपन्न राजपुत्र केवल पंच को अमान्य होने से दुःख को पाता है जब पंचमान्य गुणहीन दुर्वलवंश समुत्पन्न राजा शासन चलाता है। इसी तरह चिंतामणी आदि निज स्वभाव से उत्तम होने पर भी परमात्मा की मूर्ति प्रामाणिक पंथों से पूजित होने से पृथ्वी पर विशेष मान्य है। देखो! वरराजा (दुल्हा) महाजन, दत्तपुत्र और ऐसे ही अन्य विषय में जिस को भाग्य की प्रेरणा से स्थापित करता है वह मान्य होता है। ऐसे ही सौभाग्य नामकर्म के उदय से परमेश्वर की जो मूर्ति स्थापित की जाती है वह पूजनीय होती है।

प्र० उपर्युक्त प्रत्येक पदार्थ आकारवाले होने से उन की प्रतिमा भी हो सकती है और कदाचित् पूजनीय भी हो सकती है, किन्तु परमात्मा वीतराग तो निराकार प्रसिद्ध है तब उन का बिम्ब कैसे और उन की पूजा कैसी? और अगर ऐसा किया जायेगा तब अतद् वस्तु में तद् वस्तु का (अभगवंत में भगवंतत्व का) दोष क्यों न होगा?

उ० निराकार भगवन्त का बिम्ब वह अवताराकृति की रचना है। अर्थात् महात्माओंने भगवन्त का अन्तिम भव लक्ष्य में लेकर वैसी मूर्ति बनायी है और फिर भगवंत की किसी भी अवस्था को लेकर उन के अर्थी उन की पूजा करते हैं।



१९ वाँ अधिकार.

प्रतिमा-पूजन.

प्र० निराकार सिद्ध प्रभु की प्रतिमा ईच्छित वस्तु की प्राप्ति करती है ?

उ० निराकार सिद्ध पभु की प्रतिमा भी साक्षात् सिद्ध की तरह चित्त की ईच्छित आशा को निःशंका से विस्तारित करती है।

प्र० स्थापना कैसे होती है ?

उ० स्थापना स्वचित्त से होती है।

प्र० स्थापना किन किन पदार्थों की होती है ?

उ० स्थापना सत् (विद्यमान) और असत् (अविद्यमान) की होती है।

प्र० स्थापना सेवन का फल कैसा मिलता है ?

उ० लोक में भी अनाकार चीज का आकार-भाव बतलाया जाता है। जैसे यह भगवन्त की आज्ञा है, उस का पालक

वह साधु है और विराधक वह असाधु है। स्थापना सेवन के समय भावना वैसी सिद्धि होती है।

प्र० इन वस्तुओं का अनाकार आकार भाव लोक में कैसे बताया जाता है ? वह दृष्टान्त के साथ कहो।

उ० आम्नाय (आगम अथवा मंत्र) शास्त्र में भी यह वायु-मण्डल और यह आकाशमण्डल ऐसी आकृति होती है। विचारशास्त्र में स्वरोदय के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच तत्त्व आकृति बना कर बताये जाते हैं। इन दृष्टान्तों में जैसे अनाकार वस्तु साकार बतलायी जाती है वैसे ही सिद्ध महाप्रभु की प्रतिमा भी आकार निकल कर बतलायी जाती है। जब अनाकार वस्तु की साकार आकृति बनायी जाती है तब निराकार प्रभु की प्रतिमा हो तो क्या हानि ? और भी देखोः—पूर्वकाल में संसार में वे लोग जो कि लब्धवर्ण हुए हैं उन्होंने आकृति रहित वर्णों को स्वचित्त की कल्पना को यह 'क' और 'ख' एसी आकृति देकर साकार बनाये हैं। अगर ऐसा न किया जाता और वर्ण नियत होते तो प्रत्येक की आकृत्ति सदृश होती किन्तु वैसा नहीं है। भिन्नभिन्न ही वर्णाकृत्ति है, कोई समान नहीं है। संसार के जितने राष्ट्र है उन सब की वर्णाकृत्ति भिन्नभिन्न है किन्तु व्यक्ति (पठन)काल में उपदेश तो एक समान होता है और कार्य भी समान होता है। उन सब लिपियों को

मिथ्या करने के लिए कोई समर्थ नहीं हैं। जिन में जो लिपि सिद्ध होती है उन में उस लिपि से फल निधान कहा जाता है।

और भी जैसे बुद्धपुरुषोने आकृत्ति रहित अक्षरों की आकृत्ति बना कर के उस की स्थापना अपने अपने सुगुप्त आशय को समजाने के लिए भिन्नभिन्न कि है, और भी जैसे रागादि को जाननेवालोंने राग भी शब्दरू होने से आकार रहित होते हुए भी उन सब की साकार स्थापना 'रागमाला' नामक पुस्तक में किये है इसी तरह सत्पुरुषोंने अनाकार प्रभु के आकार की कल्पना कीयी है और शुभ आशय से जो पूजता है उस की मनःकामना प्रायः सिद्ध होती है।

प्र० अलिप्त परमात्मा को निंदा स्पर्श करती है या नहीं ?

उ० नहीं, उन को जैसे पूजा भी कुछ स्पर्श नहीं करती वैसे निंदा भी स्पर्श नहीं करती।

प्र० तब प्रभु की कि हुई निंदा किस को लगती है ?

उ० जो निन्दक होता है उस की आत्मा को लगती है। जैसे कोई पुरुष वज्र की दिवाल में मणि को मारता है और कोई पत्थर को फेंकता है किन्तु वे दोनों चीज क्षेपक के पास ही वापस आती है, दिवाल को कुछ भी नहीं होता। और भी सूर्य के सन्मुख रज या कर्पूर फेंकनेवाला

वापिस अपने तरफ उन को आते हुए पाता है, सूर्य को कुछ भी नहीं होता। और भी सार्वभौम चक्रवर्ती, निंदा करनेवाला खुद जनसमूह के समक्ष दुःखी होता है और प्रशंसा करनेवाला स्वयं सुखी होता है। सार्वभौम नृपति को निंदा से कुछ हानि नहीं होती और प्रशंसा से कुछ लाभ नहीं होता। वैसे ही प्रभु की निन्दा-स्तुति को उन को कुछ भी नहीं होता। और भी जैसे अपथ्य आहार ग्रहण करनेवाला दुःखभाजन होता है जब पथ्य आहार लेने-वाला सुखी होता है किन्तु आहार को हानि या लाभ कुछ भी नहीं होता। ऐसे ही सिद्धों की पूजा पूजक को लाभ-कारी होती है।





२० वाँ अधिकार.

प्रतिमा–पूजन.

प्र० चिंतामणि प्रमुख पदार्थों के पूजन से पूजक को तत्काल फलसिद्धि होती है। परमात्मा की पूजा तत्काल फल को नहीं देती उस का क्या कारण है ?

उ० वास्तविक रीति से देखने पर स्पष्ट होता है कि—जिस चीज को फलने का जो काल होता है उसी काल में वह फल को देती है। दृष्टान्त यह है कि–गर्भ जल्दि नहीं किन्तु प्रायः नव मास के वाद ही प्रसूति को पाता है। मंत्र भी कोई लक्ष जाप के बाद तो कोई कोटी जाप के बाद सिद्ध होता है। वनस्पति, पेड आदि भी अपने समय पर ही फलते हैं, हमारे शीघ्रता सर्व प्रयत्न निष्फल होते हैं। कोई चक्रवर्ती या इन्द्रादिकी की हुई सेवा भी निश्चित समय के वाद फल को देनेवाली होती हैं। पारा भी जब

सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तब जल्दि ही सिद्ध नहीं हो जाता, निश्चित समय अवश्य होता है। देश के अन्य व्यवहारिक कार्य भी उन का जब काल परिपूर्ण होता है तब ही फलते हैं। इसी तरह यहाँ कीयी पूजादि का पुण्य स्वकाल–भवान्तर में ही फलदायी होता है। इस लिए फल देनेवाले पदार्थों के सम्बन्ध में सुज्ञ पुरुषों को आतुरता नहीं रखनी चाहिए।

चिंतामणी आदि पदार्थसमूह[1] ऐहिक तुच्छ फल को देनेवाले हैं इस से वे परभव में नहीं किन्तु इसी मनुष्य भव में जो प्रायः तुच्छ काल का होता है उस में फलते हैं, जब पूजादि से होनेवाला फल विशाल होता है जो अनन्त काल पर्यन्त भोग में आता रहता है। उस जीव का विशेष काल देवादि सम्बन्धी भवान्तरों में जाता है इस लिए पूजादि के पुण्य का फल प्रायः भवान्तर में उदय में आता है। अगर इसी भव में उस का फल हो तो मनुष्य जीवनकाल स्वल्प होने से तुच्छ काल पर्यन्त वह सुख उपभोग में आता है। और मनुष्य देह नाशवन्त होता है उस से महत्पुण्य का फल भोगते भोगते मृत्यु हो जाने से स्वल्प समय में वह सुखभंग हो जाता

१ यह कथन यथास्थित भाव सहित कीयी हुई द्रव्य पूजा के महत् फल को लक्ष्य में लेकर के है। सामान्य पूजा का सामान्य फल तो इसी भव में मिल सकता है।

है और मृत्यु जैसी भयदायक और अन्य कोई चीज नहीं है तथा ऐसे महत्पुण्य के भोग के समय ऐसा होना युक्त भी नहीं है इन कारणों से पूजादि का पुण्य प्रायः परभव में फलता है। जैसे अनेक प्रकार के परिश्रम सहन कर के पैदा कीयी हुई चीज अनेक प्रकार से उपभोग में आने पर भी क्षय नहीं होती ऐसे पूजादि का फल भोगने पर भी प्रायः अन्य जन्म में वह उदय में आता है। अति उग्र पुण्य साक्षात् यहाँ ही फलदायक होता है। देखो ! संसार में कहा जाता है कि जो सत्यवादी होता है वह कैसे भी दिव्य में से (भयंकर प्रतिज्ञा) कंचन की तरह शुद्ध निकल जाता है। जैसे कोई शुद्ध सिद्धपुरुष को या साधुपुरुष को स्वल्प भी दिया हो तो सकल पदार्थ की सिद्धि के लिए होता है अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए सुख का कारणभूत और अनुक्रम से भवबन्धन से भी मुक्त होने के लिए साधन होता है। और जैसे किसी अनुत्तर (सर्वोत्तम) राजपुत्रादि को किसी समय स्वल्प भी दिया हो तो देनेवाले की इष्ट सिद्धि होती है। विशेष क्या ? दुष्ट प्रतिपक्षी के प्राणघातक कष्ट में से भी वह रक्षण करता है इसी तरह किसी समय पूजादि स महत्पुण्य उपार्जन किया हो तो वह इस लोक में और परलोक में सत्य सुख की परंपरा प्राप्त करवाने के लिए समर्थ होता है। शालिभद्र के जीव की तरह अथवा

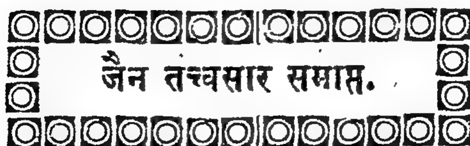
चोर की तरह एक पुरुष से उपार्जित अति उग्र पुण्य और पाप अनेक जीवों के भोग के लिए भी होता है। जैसे राजा की सेवा करनेवाला सपरिवार सुखी होता है और अपराध करनेवाला सपरिवार दुःखी होता है। इस तरह परमेश्वर की पूजादि का पुण्य सर्व प्रकार के स्वार्थों को साधनेवाला है इसी लिए प्रत्येक को इस का आदर करना चाहिए।

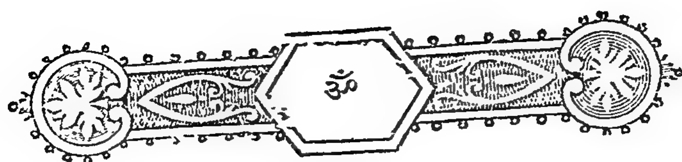
प्र० परमात्मा के नाम का 'जाप' करने में क्यों प्रवृत्ति करनी चाहिए ?

उ० महापुरूषोंने ऐसी योजना करने में भी बडा भारी विवेक किया है। गृहस्थ वर्ग जो कि समर्थ है वे द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा के अधिकारी हैं, किन्तु महान् योगीवर्ग जो कि द्रव्य परिग्रह के विना ही संसार में रहते हैं उन के लिए परमात्मा का नाम स्मरण ही सब कुछ है और इसी से ही उन के सर्व स्वार्थ सिद्ध होते हैं। जैसे विषवाले जीवों के काटने से मूर्च्छित प्राणियों का विष अन्यों से किये हुए गारुड,—हंस—जांगुली मंत्र के जाप से नष्ट होता है वैसे हि तत्त्व से अनभिज्ञ जनों के पाप प्रभु के पुण्य स्मरण से नष्ट होते हैं।

अन्य एक वार्ता भी लोक में प्रसिद्ध है कि—'हुमाय' नामक पक्षी जो कि अस्थियों को खाता है वह सदा स्व

जीव की रक्षा करता हुआ आकाश में उडता है, किन्तु उडने के समय जिस पर उस की छाया गिरती है वह राजा होता है। इस दृष्टान्त में हुमाय पक्षी स्वयं नहीं जानता कि मैं किसी पर छाया करता हूँ और वह मनुष्य भी नहीं जानता कि मेरे पर हुमाय पक्षी की छाया होती है। इस तरह प्रसंग से दोनों अज्ञान हैं तथापि हुमाय पक्षी की छाया के महात्म्य के उदय से उस के दरिद्रता नष्ट होती है और वह राजा होता है। ऐसे ही ईश्वर नामस्मरण से पाप क्यों नष्ट न हो? अर्थात् पाप नष्ट होते हैं और जब पाप जाता है तब संपूर्ण रीत्या आत्मशुद्धि होती है और आत्मशुद्धि होने से उत्कृष्टात्मक ज्ञान होता है और ऐसे ज्ञान से फिर कर्मों का नाश होता है। अन्त में कर्मनाश से मोक्षप्राप्ति हो जाने से अक्षयस्थिति, अनंतज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख और एक स्वभावता होती है। संक्षेप में सज्ज्योति जागृत होती है।





प्रतिमा-पूजन के विषय पर विशेष प्रकाश.



श्रीमन्महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजीविरचित १२५ गाथा के स्तवन में से ढाल आठवी, ९ और १० के सार में से—

प्र० वह मनुष्य जो कहता है कि—" जो केवल दया है वही शुद्ध व्यवहार है, और जो मैं करता हूँ वही शुद्ध करता हूँ " यह उस का कहना क्या वास्तविक है ?

उ० नहीं, वह वास्तविक नहीं है । इस से वह जिनेश्वर महाप्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करता है क्यों कि षड्काय से परिपूर्ण इस संसार में केवल दया का पालन कैसे हो सकता है।

प्र० जिनपूजा यह एक शुभ क्रिया है और वह शुभ भाव का कारण है और भी वह मोक्ष को देनेवाली है उस को वे लोक जो कि अपार आरंभ कहते हैं यह क्या सत्य है ?

उ० यह कहनेवाले असत्य वक्ता हैं क्यों कि अगर ऐसा ही है तो मुनि को किसी नदी के उल्लंघन में जीयदया कहाँ जाती है। अगर यह कहा जाय कि यतना के साथ नदी को पार करनेवाला जीवदया का पालन करता है तो उन को समजना चाहिए कि जल स्वयं अपूकाय है और जहाँ जल है वहाँ वनस्पतिकाय भी है। वनस्पतिकाय है वहाँ तेउकाय है, जहां तेउकाय वहाँ वायुकाय है, जल पृथ्वीकाय पर है और जल में रहनेवाले मत्स्यादि त्रसकाय हैं। इस तरह की नदी पार करते हुए जीवदया कहाँ रहेगी? कहने का सारांश यह है कि वे जो कि 'केवल दया' कहनेवाले हैं वे आडम्बर करनेवाले हैं क्यों कि मुनि को आशय की विशुद्धि के साथ नदी पार करते हुए हिंसा नहीं होती। यद्यपि नदी में चलते हुए हिंसा अवश्य होती है किन्तु विधिपूर्वक यतना के साथ निर्मल आशय को रखते हुए पार करने से मुनि को हिंसा होती नहीं। इसी तरह विधि योग से शुभ भाव को धारण कर के यतना के साथ पूजन करने से जिनेन्द्र पूजा मोक्ष की कारणभूत होती है।

ज्ञानार्णव में कहा है कि एक मनुष्य विरति के परिणाम मैं चलता हो किन्तु कदाचित् कोई जीव उस के पैर के वजन से दब कर मृत्युवश हो जावे तब भी चलनेवाले को पाप नहीं है। ऐसे ही जिनपूजा उपयोग के साथ यतनापूर्वक शुभ भाव से कि जाती है। ऐसी पूजा

में अपार आरंभ माननेवाला स्वयं भवजल में डूबता है और दूसरे को भी डूबाता है। जिन क्रियायों में विषयारम्भ का त्याग होता है वे क्रियायें सदा भवजल का अन्त करनेवाली होती है। संसार के निमित्तभूत, विषयादि का आरंभ पाप की वृद्धि करनेवाला है किन्तु शुभ आरंभ से अशुभ भाव की निवृत्ति होती है और पाप का क्षय होता है।

प्र० जिनेन्द्र प्रभु की पूजा से और कौन कौन से लाभ होते है?

उ० जिनेन्द्र प्रभु की पूजा से वीतराग देव के गुणों का ध्यान होता है और वीतराग प्रभु के गुण के ध्यानरूपी शुभ भाव से विषयारंभ का भय नहीं रहता इस लिए जिन-पूजा आदि कार्य शुभ आरम्भ स्वरूप हैं और उस में अशुभ भाव की निवृत्ति का बडा भारी गुण है।

(२) प्रतिमा पूजन से विनय होता है और विनय वह एक अन्तरंग तप है इस लिए प्रभु की प्रतिमा का विनय करने से शुभ भाव होता है और शुभ भाव से प्राणी मोक्षगति प्राप्त कर सकता है।

प्र० वे लोक जो कि 'पूजा में आरंभ होता है' ऐसा सोच कर जिनेन्द्र की पूजा नहीं करते वे क्या वास्तविक करते हैं?

उ० वे अवास्तविक करते हैं। जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिमा पूजन

में आरम्भ माननेवाला क्या दान, वंदन, आदेश आदि क्रियायों को नहीं करता ? और दान करना, वंदन करना आदि क्रियायों में वायुकायादि की विराधना क्या नहीं होती ? और दानादि प्रवृत्तियों को स्वीकार के विना क्या वह क्षणभर भी टिक सकता है ? अगर यह कहा जाय कि दानादि प्रवृत्तियाँ करते हुए आशय शुभ होता है, किसी भी जीवविराघना का आशय वहाँ नहीं होता तो हम भी कहते हैं कि जिनेन्द्र पूजा में हमारा भी आशय शुभ ही होता है।

प्र० पुष्पादि जीवों के आरम्भ से पूजा सावद्य–सपाप नजर आती है तब उस में फल कैसे है ?

उ० पुष्पादि जीवों के आरम्भ से पूजा सावद्य–सपाप मालूम होती है किन्तु अनुबन्ध से–उत्तरोत्तर भाव वृद्धि से पूजा निरवद्य–निष्पाप है। कारण यह है कि पूजा के समय में जिनेद्र के गुणों का बहुमान होता है और इसी से शुभ ध्यान रहता है और पापकर्म के योग्य मलीनारम्भ की निवृत्ति होती है। और वीतराग प्रभु के बहुमान से भाव निर्मल होते हैं और चित्त की विशुद्धि होती है।

प्र० जिनेन्द्र की पूजा से और क्या लाभ होता है ?

उ० जिनेन्द्र–प्रभु की पूजा–अर्चा–सेवा आदि देख कर भव्य जीवों के शुभ भाव उल्लास को पाते हैं और ऐसे शुभ

भावों से षड्काय के रक्षक होकर वे भवजल को पार कर जाते हैं।

प्र० कारणवशात् मुनि को जल में गमन करते हुए, जल में तैरनेवाले जल–जीवों की, दया भावना के परिणाम क्या निष्फल हैं ?

उ० नहीं, मुनि के नदी को पार करते हुए दया के परिणाम निरर्थक नहीं है और ऐसे ही श्रावकादि को पूजा के समय पुष्पादि जीवों के दया के परिणाम निरर्थक नहीं है।

प्र० अगर जिनेन्द्र–पूजा निरवद्य है तो मुनिवर्ग क्यों नहीं करता ?

उ० जिनपूजा वह रोगीजन को औषध के समान है। गृहस्थ श्रावकवर्ग मलीनारम्भरूपी रोग से ग्रसित है। वह मलीनारम्भरूपी रोग की शान्ति के लिए शुभ आरम्भ स्वरूप जिनवर पूजा औषध के समान है किन्तु मुनिवर्ग संपूर्ण सावद्य क्रियायों से निवृत्त होते हैं उन को मलीनारम्भादि कोई रोग नहीं तो फिर औषधरूपी पूजा की क्या आवश्यकता ?

प्र० मुनिमहाराजों को और श्रावक को कौन से 'स्तव' हितकर है ?

उ० मुनिमहाराजों को 'भावस्तव' कहा है क्यों कि द्रव्यस्तव में सावद्य क्रिया रहती है और वह मुनिओं को अहित-

कर है । गृहस्थ–श्रावक कों 'द्रव्यस्तव' और 'भावस्तव' केवल श्रावक को ही हितकर है । मुनियों के लिए वह हितकर नहीं है ।

प्र० 'ज्ञाताधर्मकथा' में प्रभु श्री महावीरस्वामीने जिनपूजा के विषय में क्या कहा है ?

उ० उस में श्री प्रभु महावीरने कहा है कि सूर्याभदेव की तरह द्रौपदीने भाव से जिनेन्द्र प्रतिमा की पूजा कि थी ।

प्र० क्या द्रौपदी श्राविका थी ?

उ० हाँ, द्रौपदी शुद्ध श्राविका थी और इस के लिए दृष्टान्त है । किसी समय नारदजी उन के घर आये थे किन्तु नारदजी असंयती होने से धर्म के मर्म की ज्ञाता द्रौपदी खडे होने के बजाय अपने स्थान पर बैठी रही थी । जो शुद्ध सम्यक्त्व धारण करनेवाले होते हैं वे जिनेश्वर देव को या उन के भाषित धर्म को या साधु मुनिराज को ही नमस्कार हैं, अन्य किसी को वे नमन नहीं करते । सुश्राविका सुलसा को छल करने के लिए देवने अनेक रुप किये, सिंहासन और 'त्रिगडा' बनाया किन्तु वह अपने सम्यक्त्व से पदभाव भी च्युत न हुई । तात्पर्य यह है कि वे जो कि शुद्ध सम्यक्त्व के पालक होते हैं वे कभी असंयत को नमस्कार नहीं करते औद द्रौपदीने भी ऐसा ही किया था इस से सिद्ध होता है कि नह शुद्ध श्रद्धा को

धारण करनेवाली श्राविका थी। और भी उसने जिन-प्रतिमा के सामने शक्रस्तव—नमुत्थुणं भावपूर्वक कह कर उन के गुण गाये थे। अगर वह श्राविका न होती तो ऐसा न करती।

प्र० श्री कल्पसूत्र में सिद्धार्थ नृपतिने याग—यज्ञ किये थे ऐसा उल्लेख है, यहाँ याग शब्द का क्या अर्थ है ?

उ० याग शब्द का अर्थ पूजा होता है। अन्य मत के मानने-वालों में इस का अर्थ पशु आदि के होमने से पूजा करना होता है और इसी कारण से वे यज्ञ शब्द के अर्थ को अच्छी तरह से नहीं समजते। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'पूजा' होता है क्यों कि यजीं देवपूजा—संगति करण दानेषु "यज्" धातु देव की पूजा करनी, संगति करनी और दान देना इस अर्थ में आता है। "याग" शब्द "यज्" धातु से हुआ है इस लिए याग का अर्थ पूजा ऐसा होता है, और सिद्धार्थ राजा शुद्ध श्रावक थे और शुद्ध श्रावक कभी पशु होमादि से यज्ञ नहीं करते।

प्र० देव धार्मिक नहीं होते यह क्या सत्य है ?

उ० नहीं, यह असत्य है और ऐसा कहनेवाले दृढतर कर्म बाँधते है। सूर्याभ सुरराजने अन्य देव—देवीयों के साथ अपने विमान में रहे हुए सिद्धायतन में जाकर भाव सहित वीतराग—प्रभु की प्रतिमा की पूजा कियी थी।

प्र० कोई कहता है कि—पूजादि द्रव्यस्तव में शुभ परिणाम से पुण्यबन्ध होता है किन्तु उस में खास कोई धर्म मालूम नहीं होता और व्रत करने से जैसे मन आनंदित होता है वैसा उस में कुछ भी नहीं होता। कारण यह है कि—व्रत में आरंभ नहीं है और पूजादि में आरंभ होता है। और भी जहाँ तक कर्म होते हैं वहाँ तक जीव को संसार में भ्रमण करना होता है और पापप्रकृति भी कर्म हैं वैसे ही पुण्यप्रकृति भी कर्म हैं और दोनों के क्षय के बिना—शुभ और अशुभ कर्मों के क्षय के विना आत्मा मोक्ष में नहीं जा सकता। धर्म उसको कहते हैं कि जिस में आत्मा विभाव स्वभाव का—आत्मरमण से भिन्न स्वभाव का त्याग कर के खुद के—स्वस्वभाव में रमण करता है। पुष्पादि के आरंभ से होती पूजा में आत्मा विभाव स्वभाव में रहता है इस से धर्म होता नहीं इस लिए पूजादि द्रव्यस्तव आदर करने योग्य नहीं है, किन्तु निरारंभी व्रत परिणाम में आत्मा स्व—स्वभाव में मग्न रहने से उस व्रत के परिणाम से—भावस्तव से धर्म होता है। इस लिए संक्षेप में द्रव्यस्तव के बजाय भावस्तव ज्यादा आदरणीय है ?

उ० यह वार्ता योग्य नहीं है। ऐसा कहनेवाले धर्म के मर्म को सचारुरूप से समजते नहीं है क्यों कि निश्चयधर्म शैलेषी करण के अन्त में अर्थात् १४ वें गुणस्थानक के अन्त में

में कहा है कि निश्चय धर्म अधर्म का क्षयकर्ता है और मोक्ष सुख को देनेवाला है और वह निश्चयधर्म धर्म और अधर्म–पुण्य और पाप के क्षय के कारणभूत है। अब वह शैलेषी के चरम समय में होनेवाले निश्चयधर्म का जो जो साधन खुदखुद के गुणस्थानक को आश्रय कर के रहे हैं वे " व्यवहार धर्म " कहलाते हैं जैसे "वर्षति पर्जन्यः" " मेघ वरसता है " यहाँ वास्तविक रीति से देखने पर ज्ञात होगा कि–मेघ वरसता नहीं किन्तु मेघ में रहा हुआ जल बरसता है, किन्तु कार्य कारण के अभेद उपचार से " मेघ बरसता है " ऐसा कहा जाता है वेसा ही " व्यवहार धर्म " कहलाता है किन्तु वह निश्चय धर्म की साधना का ही कारण है। वादल और जल जैसे अभिन्न हैं वैसे ही व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म अभिन्न है क्यों कि कार्य–कारणभाव सदा अभिन्न ही रहते हैं। तव फिर जैंसे व्रत प्रत्याख्यानादि व्यवहार धर्म हैं वैसे ही पूजादि भी व्यवहार धर्म में ही हैं। इस लिए व्रत–प्रत्याख्यान धर्म समजना और पूजादि द्रव्यस्तव में धर्म नहीं समजना यह केवल मूर्खता ही है।

प्र० शुभाशुभ विभाव परिणाम अर्थात् क्या ?

उ० शुभ विभाव परिणाम वह पुण्य और अशुभ विभाव परिणाम अर्थात् पाप यह समजना चाहिये।

प्र० पुण्य कब होता है और निर्जरा (देश से कर्मों का क्षय) कब हो सकती है ?

उ० किसी भी सत्कार्य को फल की चाहना के सिवाय और निष्काम बुद्धि से और शुद्ध आत्मपरिणति से किया हो तो कर्म का क्षय होता है और फल की चाहना से और परिणाम की आशा से किया हो तो पुण्य होता है। और इस लिये ही 'जय वीयराय' सूत्र में लिखा है कि-"वारिज्ज जइ वि नियाण-बंधणं वीयराय तुह समये" हे प्रभु वीतराग देव ! तेरे सिद्धान्त में नियाणा का (फल की इच्छा से) निषेध किया है। और भी गीता में श्रीकृष्णने अर्जुन को कहा है कि—हे अर्जुन ! "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" हे अर्जुन ! प्रत्येक कार्य में कर्म करने का तेरा अधिकार है, फल की चाहना न करना। इसी से ज्ञात होता है कि प्रत्येक सत्कार्य आसक्ति रहित करने चाहिये जिस से शुभ विभाव परिणाम नहीं हो और उस से पुण्य न बंधते हुए कर्म की निर्जरा हो जाय।

संक्षेप में प्रत्येक सत्कार्य को फल की चाहना से रहित करने चाहिए जिस से अशुभ कर्मो का क्षय हो जाता है। फल की इच्छा से सत्कार्य करने से शुभ कर्मों का उदय होता है और इस से शुभ विभाव कर्म बंधते हैं अर्थात् पुण्य कर्म बंधता है जिस को फिर भोगना पडता है। पाप एक लोहश्रृंखला है जब पुण्य भी सुवर्ण की श्रृंखला

है इस लिए आत्महितार्थी जनों को चाहिए कि सत्कार्य हमेशां निष्काम बुद्धि से और फल की चाहना से रहित करें जिस से शुभ विभाव परिणाम हो नहीं ।

प्र० श्री ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से धर्म कैसे समजना चाहिये ?

उ० श्री ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से जब तक आत्मा का शुद्ध उपयोग स्वभाव रहता है तब तक धर्म और जब तक शुभ और अशुभ विभाव परिणाम रहता है तब तक पुण्य और पाप समजना चाहिए ।

प्र० एवंभूत नय की अपेक्षा से धर्म कैसे समजना चाहिए ?

उ० आत्मा का स्व–स्वभाव परिणाम वही एवंभूत नय की अपेक्षा से धर्म कहा जाता है ।

प्र० जिन पूजा में मन–वचन और काया के शुभ योग से द्रव्याश्रव होता है इस से क्या स्व–परिणामरूप धर्म नष्ट होता है ?

उ० नहीं, उस से स्व–परिणामरूप धर्म नष्ट नहीं होता । जब तक आत्मा की योगक्रिया बंध नहीं हुई है तब तक आत्मा योगारंभी है । किन्तु जिन क्रियाओं के करने से स्व–स्वभाव–परिणतिरूप आत्मिक धर्म नष्ट होता हो उन को नहीं करना चाहिए किन्तु वीतराग के पूजादि से तो आत्मिक धर्म की पुष्टि होती है फिर उस का आदर क्यों नहीं करना ? तात्पर्य यह है कि जिनपूजा से द्रव्याश्रव होता है तथापि वह आत्मिक धर्म को पुष्ट करनेवाली

होने से सर्वदा आदरणीय है। जब तक मन, वचन और काययोग की क्रियायें बंध नहीं हुई है तब तक वे शुभ और अशुभ मार्ग को अवश्य जावेगी तब फिर उन तीनों योगों को जिनपूजारूप शुभ मार्ग में श्रावक को परिणत करने के लिए कौन मनाई करेगा ?

प्र० श्रावक को किस कारण से जिनपूजा अवश्य करनी चाहिए ?

उ० श्रावक मलीनारंभी–असत् आरम्भी है अर्थात् वह सावद्य व्यापार का आरम्भ करनेवाला है इस लिये उस को जिन-पूजा अवश्य करनी चाहिए।

प्र० कोई कहे कि द्रव्यस्तव से पुण्य होता है जिस से स्वर्ग मिलता है किन्तु मोक्ष नहीं मिलता तो द्रव्यस्तव क्यों करना चाहिए ?

उ० 'द्रव्यस्तव' अवश्य करना चाहिए। द्रव्यस्तव, भावस्तव का कारण होने से तथा आत्मिक धर्म को पैदा करनेवाला होने से उस का अवश्य आदर करना चाहिए। सराग संयम स्वर्ग का कारण है मगर उस को उपादेय क्यों समजा ?

प्र० द्रव्यस्तव वह अप्रधान स्तव है तब उस को छोड कर भाव-स्तव क्यों न करना चाहिये ?

उ० द्रव्यस्तव–पूजादि से भावस्तव–चारित्र्य की प्राप्ति होती है। इस द्रव्यस्तव का द्रव्य शब्द अप्रधान अर्थ में नहीं किन्तु कारण अर्थ में समजना चाहिए इस लिए द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण होने से अवश्य आदरणीय है।



नयरेखादर्शन[1].



प्रश्नोत्तरावली ।

प्र० नय अर्थात् क्या ?

उ० नय का अर्थ आंशिक (अंशतः) सत्य है । अनेक धर्म-युक्त वस्तु में किसी एक धर्मविषयक जो अभिप्राय होता है उस को जैन शास्त्रों में नय की संज्ञा दीयी है ।

प्र० निश्चय नय का क्या अर्थ है ?

उ० वह दृष्टि जो कि वस्तु की तात्त्विक स्थिति को, अर्थात् वस्तु के मूल स्वरूप को स्पर्श करनेवाली है उस को निश्चय नय कहते हैं ।

प्र० व्यवहार नय अर्थात् क्या ?

---

१ यह लेख आत्मानन्द प्रकाश के पु, २८ अंक २ पृ, ४१ में प्रगट किया है ।

उ० वह दृष्टि जो कि वस्तु की बाह्य अवस्था के प्रति लक्ष को आकर्षित करती है उस को व्यवहार नय कहते हैं।

प्र० नय की विशिष्ट व्याख्या कहो !

उ० अभिप्राय को दर्शानेवाले शब्द, वाक्य, शास्त्र वा सिद्धान्त सब ही को नय कह सकते हैं।

प्र० नय को संपूर्ण सत्य मान सकते हैं कि नहीं ?

उ० नय को संपूर्ण सत्य नहीं मान सकते।

प्र० नय कितने हैं ?

उ० उस की गणना नहीं हो सकती।

प्र० वह कैसे समज सकते हैं ?

उ० अभिप्राय या वचन समुदाय जब गणना से परे हैं तब नय उन से अभिन्न होने से उन की भी गणना नहीं हो सकती।

प्र० द्रव्य किस को कहते हैं ?

उ० मूल पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

प्र० पर्याय किस को कहते हैं ?

उ० द्रव्य के परिणाम को पर्याय कहते हैं।

प्र० किसी वस्तु का समूल नाश और अपूर्व उत्पाद क्या हो सकता है ?

उ० नहीं।

प्र० नयाभास अर्थात् क्या ?

उ० अमुक धर्म को ग्रहण कर के अन्य सर्व धर्मों को जो ति-
रस्कृत करता है वह नयाभास कहा जाता है।

प्र० नय कितने हैं ?

उ० सात हैं।

प्र० उन के क्या नाम हैं ?

उ० १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द,
६ समभिरुढ, ७ एवंभूत.

प्र० सात नयसमुदाय में कितने द्रव्यास्तिक कहे जाते हैं और
कितने पर्यायास्तिक कहे जाते हैं ?

उ० प्रथम के चार द्रव्यास्तिक नय हैं और बाकी के तीन प-
र्यायास्तिक नय हैं।

प्र० नैगम नय किस को कहते हैं ?

उ० सामान्य और विशेष आदि ज्ञान से वस्तु को नहीं मानता
किन्तु सामान्य–विशेष आदि अनेक रूप से वस्तु को
स्वीकार करता है वह नैगमनय कहलाता है जैसे मैं लोक
में रहता हूँ।



सामान्य विशेष रूपकी समज.



कोई प्रश्न करता है कि–'आप कहाँ रहते हैं' ?। तब सामनेवाला जवाब देता है कि–'लोक में', फिर प्रश्न होता है कि–" कौन से लोक में रहते हो "। उत्तर मिलता है कि–' भरतखण्ड में '। फिर प्रश्न होता है "कौन से देश में रहते हो"। जवाब दिया जाता है कि–' गुजरात में ' इस तरह नैगम नय सामान्य विशेषादि ज्ञान से वस्तु को नहीं मानता किन्तु आगे लिखने के मुताबिक सामान्य विशेषादि अनेक रूप स वस्तु को मानता है। सामान्य होता है वह विशेष होता है और विशेष वह सामान्य होता है। इस तरह सामान्य विशेष के अनेक रुप से वस्तु को मानता है। और भी यह नय अंशग्राही होने से देश को (अंश) भी संपूर्ण सत्य मान लेता है। और भी यह नय संकल्प कल्पना को भजनेवाला है इस लिये कल्पना से भी वस्तु का व्यवहार करता है और वह एक

रूप से नहीं किन्तु आगे बतलाने के मुताबिक अनेक रूप से वस्तु का स्वीकार करता है।

प्र० इस नय के कितने प्रकार हैं और वे कौन कौन से ?

उ० उन के तीन प्रकार हैं। (१) भूत (२) भविष्य (३) वर्तमान

प्र० भूत नैगम किस को कहते हैं ?

उ० भूत नैगम अर्थात् भूत वस्तु का वर्तमानरूप से व्यवहार करना वह। जैसे—यह वही दीवाली (दीवावली) का दिन है जिस दिन श्रीप्रभु महावीर निर्वाण को पाये थे।

प्र० भविष्य नैगम क्या है ?

उ० होनेवाली वस्तु को हुई कहना। जैसे—चावल अच्छी तरह से न पके हो और पके हैं एसा कहना वह भविष्य नैगम नय है।

प्र० वर्तमान नैगम किस को कहते हैं ?

उ० क्रिया का आरम्भ न हुआ हो किन्तु सर्व तैयारियों को देख कर 'हुई है' ऐसा कहना।

प्र० संग्रहनय किस को कहते हैं ?

उ० सम् अर्थात् सम्यक् प्रकार और ग्रह अर्थात् ग्रहण करना। जो सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया है उस को संग्रहनय कहते

हैं। संग्रहनय में सामान्य की मान्यता है किन्तु विशेष की नहीं है। उस की व्याख्या निम्न लिखित है—

सामान्य रूप से सर्व वस्तुओं को खुद में अन्तर्गत करता है, अर्थात् सामान्य ज्ञान के विषय को कहता है।

प्र० व्यवहार नय किस को कहते हैं?

उ० इस नय में विशेष धर्म की मुख्यता है क्यों कि अगर आम्रादि फल विशेष न कहते हुए फल कहने से वह कौनसा फल लावेगा। इस लिए यह नय सामान्य को न स्वीकारता हुआ विशेष को ही मान्य करता है।

प्र० ऋजुसूत्र नय किस को कहते हैं?

उ० यह नय वर्तमान समयग्राही है। वस्तु के नये नये रूपांतरों की ओर हमारे लक्ष्य को खिंचता है। दृष्टान्त—जैसे सुवर्ण के कंकण—कुण्डल आदि पर्यायों को यह नय देखता है किन्तु मूल द्रव्य की ओर वह दृष्टिपात नहीं करता और इसी लिये पर्याय विनश्वर होने से इस नय की अपेक्षा से सदा द्रव्य कोई नहीं है।

प्र० शब्द नय का क्या स्वरूप है?

उ० शब्दनय अर्थात् अनेक पर्याय शब्दों का अर्थ स्वीकार करना, यह इस नय का काम है। जैसे—इन्द्र को शक्र, पुरन्दर आदि नाम से कहता है वह शब्द नय है। वस्त्र,

चीर, अम्बर आदि शब्दों का एक ही अर्थ है ऐसा यह नय समजता है ।

प्र० समभिरुढ नय किस को कहते हैं ?

उ० एक वस्तु का संक्रमण जब अन्य किसी वस्तु में होता है तब वह अवस्तु हो जाती है । जैसे 'ईन्द्र' यह शब्दरूप वस्तु का संक्रमण 'शक्र' शब्द में होता है तब इन्द्रवाचक शब्द भिन्न हो जाता है अर्थात् इन्द्र शब्द का अर्थ ऐश्वर्यवान, शक्र शब्द का अर्थ सामर्थ्यवान और पुरंदर शब्द का अर्थ शत्रु के नगरों का नाश करनेवाला होता है । ये सब ही शब्द इन्द्रवाचक है किन्तु अर्थभेद से वे भिन्न भिन्न हैं ऐसा समभिरुढ नय स्वीकार करता है ।

प्र० एवंभूत नय किस को कहते हैं ?

उ० स्व कार्य को करती हुई साक्षात् वस्तु को वस्तुरूप से मानना चाहिए जैसे 'घट' शब्द, इस में 'घट' वह प्रयोजक धातु है और इस का अर्थ चेष्टा करना यही है अर्थात् जब 'घट' जलहरण आदि में प्रवृत्त होता है तब ही उस को घट कह सकते हैं अन्यथा नहीं एसा इस नय का मन्तव्य है ।



॥ अथ एकविंशोऽधिकारः ॥



अमुं विचारं मुनयः पुरातना, ग्रन्थेषु जग्रन्थुरतीव विस्तृतम् ।
परं न तत्र द्रुतमल्पमेधसा- *मैदंयुगीनानां मतिः प्रसारिणी॥१॥
मया परप्रेरणपारवश्या-दजानतापीति विधृत्य धृष्टताम् ।
प्रश्ना व्यतायन्त कियन्त एते, परेण पृष्टाः पठितोत्तरोत्तराः ॥२॥
शैवेन केनापि च जीवकर्मणी, आश्रित्य पृच्छाः प्रसभादिमाः कृताः।
माभूज्जिनाधीशमतावहेले-त्यवेत्य मङ्क्षूत्तरितं मयैवम् ॥ ३ ॥
यथा यथा तेन हृदुत्थतर्क-माश्रित्य पृच्छाः सहसाऽक्रियन्त ।
तथा तदुक्तं पुरतो निधाय, मया व्यतार्युत्तरमार्हतेन ॥ ४ ॥
मया त्विदं केवललौकिकोक्ति-प्रसिद्धमाधीयत पृष्ठाशासनम् ।
पुराणशास्त्राहितबुद्धयस्तु, पुरातनीं युक्तिमिहाद्रियन्ताम् ॥ ५ ॥
परं विचारेऽत्र न गोचरो मे, प्रायेण मुह्यन्ति मनीषिणोऽपि ।
अमुं विना केवलिनं न वक्तुं, व्यक्तोऽपि शक्तः सकलश्रुतेक्षी ॥६॥
अतस्तु वैयात्यमिदं मदीय-मुदीक्ष्य दक्षैर्न हसो विधयः ।
बालोऽपि पृष्टो निगदेत्प्रमाणं, वार्धेर्भुजाभ्यां स्वधिया न किं वा॥७॥
यद्वेदमेवात्मधियां समस्तु, शास्त्रं यतः शासनमस्त्यथास्मात् ।
यदुक्तिप्रत्युक्तिनिर्युक्तियुक्तं, तद्वाभियुक्ताः प्रणयन्ति शास्त्रम् ॥८॥
यद्वास्ति पूर्वेष्वखिलोऽपि वर्णा-नुयोग एतन्न्यगदन्विदांवराः ।
इयं तदा वर्णपरम्परापि, तत्रास्ति तच्छास्त्रमिदं भवत्वपि ॥९॥

---

* मैदंयुगीना न ?

आनन्दनायास्तिकनास्तिकानां, ममोद्यमोऽयं सफलोऽस्तु सर्वः ।
आद्येषु[37] चास्तिक्यगुणप्रसारणा-दन्त्येषु[38] नास्तिक्यगुणापसारणात् ॥
चिरं बिचारं परिचिन्वताऽमु, यन्न्यूनमन्यूनमवादि वादतः ।
कदाग्रहाद्वा भ्रमसम्भ्रमाभ्यां, तन्मे मृषा[39] दुष्कृतमस्तु वस्तुतः[40] ॥
मया जिनाधीशवचस्सु तन्वता, श्रद्धानमेवं य उपार्जि सज्जनाः ।
धर्मस्तदेतेन निरस्तकर्मा[41], निर्मातशर्माऽस्तु जन समस्तः ॥ १२ ॥
चरतरखरतरगणधरयुगवर–जिनराजसूरिसाम्राज्ये ।
तत्पट्टाचार्यश्रीजिन–सागरसूरिषु महत्सु ॥ १३ ॥
अमरसरसि वरनगरे, श्रीशीतलनाथलब्धसान्निध्यात् ।
ग्रन्थोऽग्रन्थि समर्थः, सुविदेऽयं सूरचन्द्रेण ॥ १४ ॥ युग्मम् ॥
श्रीमत्खरतरवरगण–सुरगिरिसुरशाखिसन्निभः समभूत् ।
जिनभद्रसूरिराजो–ऽसमः प्रकाण्डोऽभवत्तत्र ॥ १५ ॥
श्रीमेरुसुन्दरगुरुः पाठकमुख्यस्ततो बभूवाथ ।
तत्र मदीयैः[42]शाखा–प्रायः श्रीक्षान्तिमन्दिरकः ॥ १६ ॥
तार्किकऋषभा अभवन्, हर्षप्रियपाठकाः प्रतिलताभाः[44] ।
तस्यां समभूवन्निह, सुरभिततरुमञ्जरीतुल्याः ॥ १७ ॥
चारित्रोदयवाचक–नामानस्तेष्वभुः फलसमानाः ।
श्रीवीरकलशसगुरुवो, गीतार्थाः परमसंविग्नाः ॥ १८ ॥
तेभ्यो वयं भवामो, बीजाभास्तत्र सूरचन्द्रोऽहं ।
गणिपद्मवल्लभपट्ट–द्वितीयीको गुरुभ्राता ॥ १९ ॥

---

३७ आस्तिकेषु । ३८ नास्तिकेषु । ३९ मिथ्या । ४० तत्त्वतः ।
४१ गत । ४२ सिद्ध ।
४३ बृहत् । ४४ प्रतिशाखाभाः ।

अस्मत्तु हरिसार–प्रमुखा अङ्कुरकरणेयैः सन्ति

तेऽपि फलन्तु फलौघैः, सुशिष्य–रूपैः प्रमापट्टुभिः ॥ २० ॥

तेनासुको वाचकसूरचन्द्र–नाम्ना रसज्ञाफलमित्थमिच्छता ।

ग्रन्थोऽमितोऽग्रन्थि मया स्वकीया-न्यदीयचेतः स्थिरतोपसम्पदे ।२१।

एवं यथाशेमुषि जैनतत्त्व–सारो मयाऽस्मारि मनःप्रसत्त्यै ।

उत्सूत्रमासूत्रितमत्र किञ्चिद्, यत्तद्विशोध्यं सुविशुद्धधीभिः ॥२२॥

वर्षे [४६] नन्दतुरङ्गचन्दिरकलामानेऽश्वयुक्पूर्णिमा,

[४७] योगे विजयेऽहमेतममलं पूर्णं व्यधामादरात् ।

ग्रन्थं वाचकसूरचन्द्रविबुधः प्रश्नोत्तरालङ्कृतं,

साहाय्याद्वरपद्मवल्लभगणेरर्हत्प्रसादाश्रियै ॥ २३ ॥

इति जैनतत्त्वसारे जीवकर्मविचारे [४८] सूरचन्द्रमनःस्थिरीकारे ग्रन्थग्रथनोत्पन्नपुण्यजनतासमर्पणस्वीयगच्छगच्छनायक–सम्प्रदायगुरुनामस्वकीयगुरुभ्रात्रादिनामकीर्त्तनोक्तिलेश एकविंशोऽधिकारः सम्पूर्णः ।

॥ तत्सम्पूर्णो च परिपूर्णोऽयं जैनतत्त्वसारो ग्रन्थः ॥



---

४५ समाः ४६ (१६७९) ४७ बुधे । ४८ पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् इति सूरइति सूरनाडी–सूर्यनाडीत्यर्थः चन्द्रइति चन्द्रनाडीत्यर्थः मनइति सुषुम्णा नाडीसूचनं यदन्तर्गतं मनः स्थिरीस्यात् । तथा च हठप्रदीपिका । मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते इति । ततो मनःस्थिरंकार इति सुषुम्णोच्यते । आसां नाडीनां स्थिरीकरो यस्मिन्नित्येकस्थिरीकारशब्दालापाद्यथेष्टार्थप्राप्तिः पक्षे ग्रन्थकर्त्तनामसूचनमिति ध्येयम् ॥